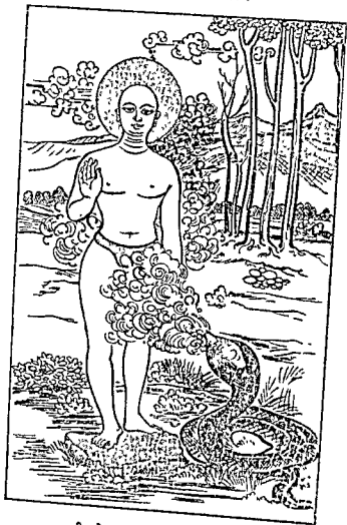


चण्डकौशिक प्रतिबोध



श्री महेन्द्रकुमार मिश्री के सौजन्य से

जीवदया प्रकरण—काव्यत्रयी

अनुवादक
मँवरलाल नाहटा

प्रकाशक
नाहटा ब्रादर्स
नं० ४, जगमोहन मल्लिक लेन
कलकत्ता-७

माघ शुक्ला ६
वि० सं० २०२१

{ मूल्य ७५ पैसा

प्रकाशक—
नाहटा मादर्स
४ जगमोहन मल्लिक लेन
कलकत्ता-७

मुद्रक :—
सुराना प्रिन्टिङ्ग वर्क्स
४०२, अपर चितपुर रोड
कलकत्ता-७

समप्पणम्

वट्टइ दक्खिण देसे भारहवासे
 हंपी णयर पसिद्धो किक्खिणे इति

सिरि रयणकूट सिहरे अइरम्मे
 णइ तुंगमइ कूले रज्जन्ते

सहजाणंद मुणिदो तिअसवई
 साइग्ग सम्मदिट्ठी पयइ कओ

कलिकायाए णयरे संठिओ
 गुरुचरण - कमल - रत्तो अइभत्ती

जीवदया ए जुत्तो नाना वित्तक पयण
 बालावबोध पयरण सुविहिय गुंफिओ

फव्वत्तयाणुवादो कोउयवस
 सुगुरु - चरण - कमले समप्पियं

प्रवेशिका

गन परं अजीमगंज के शानभण्डार से भी मांतीचन्दजी बांधरा द्वारा "भी जिनभद्रपुरि स्वाध्याय पुस्तिका" की उपलब्ध हुई, जिनके अन्वेषण में हम गत बीस वर्षों से थे। इस प्रति में कतिपय अप्रकाशित ऐतिहासिक कृतियाँ हैं। यह प्रति सं० १४६१ में लिखी हुई है, इसमें 'जीवद्रया प्रकरण' और 'नाना वृत्तक प्रकरण' की उद्योगक रचनायें देखी तो उन्हें नकल करने की स्वाभाविक इच्छा हो गई। गन चौमानी चौदस के दिन सुमुमुक्षुवर्ष भी हरणचंदजी बांधरा ने इस देखकर अनुवाद कर आलने की प्रबल प्रेरणा की तदनुसार दोनों ग्रन्थों का अनुवाद प्रस्तुत कर दिया। इसके बाद उन्होंने पद्यानुवाद करने का आदेश दिया तो वह भी जैसा ही सका, पाठकों के समक्ष है। इसे सं० भी सूरजचंदजी डांगी ने संशोधित कर देने की कृपा की है। प्रस्तुत दोनों ग्रन्थों की भाषा प्राकृत है और धर्म के मर्म से ओत प्रोत है। तीगरी ग्रन्थ बालावबोध प्रकरण भी औपदेशिक व सदाचार विषयक होने से साध ही दिया जा रहा है।

चौबीस वर्ष पूर्व जब भीजिनहरिसागरपुरिजी महाराज जैमनमेर थे, हमें वहाँ के शानभण्डार की (घोषी नं० ७६ क्रमांक १३२६ पत्र, १८१ में) सं० १३८५ से सं० १३८८ के बीच लिखी हुई प्रति में अषष्टश भाषा की तीगरी "बालावबोध प्रकरण" नामक गाथा ११६ की रचना मिली जिसे हमने नकल करली। यह रचना भी जिनपतिपुरिजी के किसी शिष्य की मालूम होती है जिसका रचनाकाल सं० १२५० के आसपास अनुमानित है। प्रस्तुत कृति में मत, गणध्वमन ध्याग,

मह्यामह्य आदिधर्म और सदाचार विषयक व्यापक उपदेश है। इस काल की हिन्दी रचनाओं का जैनेतर साहित्य में तो अभाव ही है। इसकी भाषा अपभ्रंश है जिससे हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं का विकास हुआ है। अतः इसका महत्व भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यधिक है क्योंकि यह इन सभी भाषाओं के बीच की कड़ी है और इसके शब्द रूपों से किम प्रकार भाषा-विकास हुआ इसका विवेचन बड़ा मनोरंजक और उपयोगी होने पर भी श्री जैनश्वेताम्बर पंचायती मंदिर के सार्द्धशताब्दी महोत्सव के स्मारक ग्रन्थ के सम्पादन कार्य में अत्यन्त व्यस्तता के कारण दिया जाना सम्भव नहीं हो सका है। पूज्य काकाजी श्री जगरचन्द्रजी के आदेशानुसार तीन-चार वर्ष पूर्व मैंने बालाबोधप्रकरण का अनुवाद मान किया था और अभी जब उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ छप चुके तो माघ ही में प्रकाशित करने के लिये काकाजी ने भेजा जिसे साथ ही त्वरया प्रकाशित किया जा रहा है। इसकी एक माघ प्रति मिली थी, अतः पाठ शुद्धि और पाठान्तरादि का सम्पादन वैज्ञानिक ढंग से नहीं हो सका।

जीवदया प्रकरण और नाना-वृत्तर-प्रकरण भी एक ही प्रति के आधार से प्रकाशित हो रहे हैं। यद्यपि जीवदया प्रकरण की ताड़पत्रोप प्रतिवाँ पाटणके भण्डारी में पचास उपलब्ध है पर वहाँ से प्रतिवाँ प्राप्त कर सम्पादन करना समय सापेक्ष है। अतः द्वितीयावृत्ति का अवसर मिला तो उन्हें सुगम्पादित करने का प्रयत्न किया जायगा। इसकी प्राचीनतम प्रति सं० ११८१ की लिखी हुई है इससे इस ग्रन्थकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध है। पाटण भण्डार में निम्नोक्त प्रतिवाँ है :—

संपत्तीनाडा मन्डारमें ७ प्रतिवों है जिनमें चार पूर्ण हैं, एक में गाथा १११, एकमें ११५ (सं० १३१० लिखित) दो में ११६ है, खैरखमी के मंडार में ११२ गाथाएं नं. ३ मन्डार में ११३ गाथाओं की २ प्रतिवों हैं जिनमें एक सं० ११८१ लिखित है। बाही पार्षनाथ मन्डार की प्रति सं० १३३२ लिखित है और खजुबकी मन्डार की प्रति में ११२ गाथाएं हैं। इस न्यूनताधिकता का कारण यही है कि कोई गाथा सुमापित रूप में अन्य प्रकरण में उद्धृत करली गई होगी।

सुनिराज भी संतबालजी महाराज ने हगका आमुल लिख देने की कृपा की है। पूरुपा माध्वीजी महाराज भी चन्द्रभीजी के उपदेश से भी केशरीचंदजी बण्णावन की स्मृति में उनके परिवार द्वारा पाँच सौ प्रतिवों प्रकाशित कर जीव-दया प्रचार में सराहनीय महयोग दिया है। जीव-दया प्रकरण पढ़कर पाठक जीव-दया घर में धारण करेंगे तो पुस्तक की सार्थकता सिद्ध होगी।

कलरवा
मैद-प्रयोदशी
बीर संवत् २५८१

}

विनीत
भंडारलाल नाहटा

अन्तरंग-पूजा-रहस्य पद

नित प्रभु-पूजन रचावूं.....मैं घट में (२)

सद्गुरु-शरण-स्मरण तन्मय हो, स्व पर सत्ता भिन्न भावूं ..मैं ॥१॥
 प्राण-वाणी-रस मंत्र आराधत, स्वरूप लक्ष जमावूं ..मैं ॥२॥
 स्व-सत्ता क्षायक - दर्पण में, प्रभु - मुद्रा पधरावूं मैं ॥३॥
 घट चक्र-क्रम भेद प्रभु को, मेरु दण्ड शिर लावूं मैं ॥४॥
 कमल सहस्र दल-कर्णिका-स्थित, पाण्डु शिला पर ठावूं ..मैं ॥५॥
 ज्ञान मुधाजल सिंचत-सिंचत, प्रभु सर्वंग नहलावूं मैं ॥६॥
 ज्ञान-दीपक निज ध्यान-धूप से, आर्ठा कर्म जलावूं मैं ॥७॥
 हर्षित कमल-सुमन वृत्ति चुन चुन, प्रभु पद पगर भरावूं मैं ॥८॥
 दिव्य गन्ध प्रभु अक्षत अंगे, लेपत रोम नचावूं ..मैं ॥९॥
 सहजानन्द-रस वृष नैवेद्ये, द्वन्द्व दुखादि नसावूं ..मैं ॥१०॥
 निराकार साकार अभेदे, आत्मसिद्धि फल पावूं मैं ॥११॥

आमुख

ये तीनों ग्रन्थ लगभग ६००-७०० वर्ष पहले के लिखे हुए प्राण हुए हैं और शोध प्रेमी श्री भँवरलालजी नाइटा इनका संकलन व अनुवाद करके प्रकाशित कर रहे हैं, इससे अत्यन्त प्रमन्नता होती है ; क्योंकि कलकत्ता के ऐसे ऐतिहासिक श्वेताम्बर जैन पंचायती मन्दिर का मादं शतान्दी महोत्सव मनाने के अवसर पर जैन धर्म का मर्म समझाने वाली जैन भाषु विरचित मत्कृतियाँ प्रकाशित हों यह वस्तुतः समुचित ही कहा जा सकता है ।

इन तीनों लघु ग्रन्थों के नाम क्रमशः “जीवदया प्रकरण” “नाना वृत्तक प्रकरण” और ‘बालावयोष प्रकरण’ हैं । पहले ग्रन्थ में ११५ गाथाएँ हैं, दूसरे ८१ गाथाएँ हैं और तीसरे में ११६ गाथाएँ हैं । तीनों ग्रन्थों में मुख्य प्रतिपाद्य विषय जीवदया अथवा अहिंसा और व्यापक धर्म तत्त्व हैं । दया वस्तुतः सभी धर्मों के मूल में अनिवार्य गुण है । इसीलिये गौस्वामी तुलसीदासजी को कहना पड़ा—“दया धर्म का मूल है ।” और लगभग सभी महापुरुषों ने निर्विवाद रूप से प्रतिपादन किया है—‘दया धर्म नदीतीरे सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः’ ।

एक गया तो सब कुछ गया

इसीलिये धर्म में से अहिंसा के निकल जाने पर सब कुछ चला गया समझना चाहिये । यह बात तो अब सभी स्वीकार करने लगे हैं कि इस जगत् में धर्म के सिवाय कोई तारने वाला नहीं है । धर्म के सिवाय और कोई मार्ग विश्व की छोटी-बड़ी समस्याओं के हल करने में समर्थ नहीं है । भारत धर्म प्रधान देश है और भारत की समाज-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था धर्म की बुनियाद पर आधारित रही है, इसीलिए दुनिया भारत की ओर आशा लगाई हुई है । इस दृष्टि से किसी भी युग में धर्म के तत्त्व और रहस्य को समझने

की जरूरत थी, उसकी अपेक्षा वर्तमान वैज्ञानिक युग में सबसे अधिक जरूरत है। यह बात प्रकारान्तर से इन लघुकाय ग्रन्थों में कूट-कूट कर भरी है। क्योंकि बीच के युग में धर्म के नाम पर अनेक अनर्थ दुनिया में हुए हैं और बाद में जीवदया के नाम से या तो तप-स्याग विहीन पंगु दया की गई है, या मानव-दया को मुना कर या उसकी ओर अपेक्षा करके मिर्फ प्राणिदया कार्य ही किये गए हैं। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थों में जीवदया को मुख्यता देकर उसका साक्षात्पाङ्ग विवेक भी बता दिया है। जैन धर्म यह मानता है कि आप मिर्फ मानव-दया ही करेंगे, और मानवतर प्राणी पर क्रूरता दिखाएँगे अथवा उस क्रूरता को निष्क्रिय या कायर बन कर सह लीगे, जैसे कि कई बार धर्म के नाम से होने वाला पशुवध सह लिया जाता है तो वह मानवदया भी अनिश्चित एवं अकेले एक के अंक के जैसी बन जायगी। अब मानवदया के एक अंक के साथ प्राणिदया का सुन्दर दूसरा एक अंक मिलायेंगे तो निश्चित ही उसकी कीमत ग्यारह (११) जितनी हो जायगी। प्रसंगोपात् मुझे कहना चाहिए वर्तमान जैनों में प्रायः प्राणिदया का एक अंक साबूत रहा है, लेकिन मानवदया का एक अंक इसके साथ न होने से जीवन और जगत् में जो रौनक आनी चाहिये, वह नहीं आ पाती। इसके विपरीत अन्य धर्मों में प्राणिदया के एक-अंक रहित मानवदया का एक-अंक होने से वह भी लंगड़ी बन गई है। जैनों की प्राणिदया के साथ-साथ मानव-दया को खासतौर से अपनाना होगा। तभी जैन धर्म का भण्य भूतकाल फिर से ताजा होगा। मानवदया के पूर्ण और सांगोपांग अभ्यास के लिए जैनों को अहिंसा के साथ सत्य के अंक को अनिवार्य रूप से घोटना पड़ेगा। आज जैनों का मत्प का अंक विलकुल बर्बाद बन जाने से अहिंसा भी धोंधी बन गई है। वह प्रभावशाली नहीं रही और व्यवहार में अन्याय, अनैति, वैश्यानी आदि अनिष्ट (जिसे सामाजिक हिंसा कह सकते हैं) बढ़ गए हैं।

संक्षेप में यह कक्षा जा सकता है कि अहिंसा और सत्य इन दोनों के पक्के होने पर अक्षय्य, अरिग्रह और अन्य अनेक छान्टे बड़े बन पक्के हों जायेंगे। इसी बात के इन दोनों मन्थों में यह तय संकेत मिलते हैं।

जैन धर्म की सार्वभौमता

जैनों को सह्य करके इतना कहने का कारण यह है कि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' (धर्मांतरण करने वालों के बिना धर्म टिकता नहीं) इस सूत्र के अनुसार जैन धर्म में विश्व में एकेन्द्रिय जैसे शुद्धमातिगूत्रम एष चक्षुःप्रगल्भर प्राणियों की दृष्टि से लेकर मानवदशा तक की बात मिद्धान्त युक्त (आत्मोपगम्य) व्यवहार के साथ आन्तरण करके बताई है। उसकी गाथना व्यवहार्य है। इसी प्रकार 'नमो लोए मन्वगाहणे' कहकर भगन् के सभी माधुश्री का नमस्कार करने की वशरता और गुणगूमात्मक दृष्टि जैनधर्म में ही मिलती है। साथ ही जैनधर्म की यह भी विरोधता है कि लगने व्यक्ति धर्म के साथ समाजधर्म की गाथना पर इतना ही नहीं, बल्कि इसमें विशेष आर दिया है। फिर भी व्यक्तिधर्म और समाजधर्म की गयी गमगुला सुरक्षित रहे, इतनी हर तक गहराई के साथ-साथ व्यापकता की सुरक्षा की है। इसलिए समुद्र में जैसे सभी नदियाँ गमा जाती हैं, परन्तु समुद्र, सभी नदियाँ एकत्रित ही तो भी उनमें नहीं समा सकता वैसे जैन धर्म एक महासागर रूप धर्म है, उनमें सभी धर्मों का समावेश हो सकता है। इन दृष्टि से जैन धर्म के साधु-गाथी भावक-भाविका रूप धर्म तंत्र पर सबसे अधिक जिम्मेवारी आ जाती है कि वे अपने जीवन में धर्म के गक्रिय सामुदायिक आन्तरण द्वारा विश्व को जैनधर्म के स्वरूप का दर्शन करावें। सौभाग्य से, महात्मागांधीजी ने जैनधर्म की अहिंसा की व्यापक बनाने के लिए अहिंसा का मार्मिक प्रयोग करके राजमार्ग तैयार कर दिया है, अब

साधु-साध्वियों को केवल धर्म-स्थानों में ही अहिंसा को बन्द न करके मानव जीवन के हर क्षेत्र में उसका सामूहिक प्रयोग करने की तैयारी करनी चाहिए। इन प्रयोग में कदाचित्त शुरु-शुरु में उन्हें अधिक भावक-भाविकाओं का सहयोग न मिले तो भी गाँधीजी की सर्वांगी दृष्टि को पचाने वाले कार्यकर्ता-कार्यकर्त्री (साधक-साधिका) अवश्य मिल सकेंगे। भालनलकाठा प्रदेश में हुआ धर्ममय (अहिंसक) समाज रचना का प्रयोग इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। अहिंसा, सप्त कुव्यसन त्याग और धर्म-तत्व से उसकी शुरुआत हुई थी। आज तो उस विचार एवं कार्य का प्रचार-प्रसार दूर-दूर तक हो गया है। इस प्रकार की धर्मक्रान्ति के लिए साधु जीवन में प्राण, प्रतिष्ठा और परिग्रह रूप त्रिविध ममत्व छोड़ कर त्याग, मृत्यु-आलिगन और प्रतिष्ठा परिहार का तप व्यक्तिगत सामूहिक रूप से जरूरी है।

सुझे आशा ही नहीं, विकास है कि एक साध प्रकाशित होने वाले इन तीनों लघु काय ग्रन्थों में से जिज्ञासा और गहराई के साथ चिन्तन करने वाले पाठक भाई यहाँ की उक्त वस्तुतत्त्व अवश्य उपलब्ध होगा। मैं पुनः इन तीनों लघु कृतियों को प्रकाशित करने के लिये श्री भँवरलालजी नाहटा को धन्यवाद देता हूँ।

कच्छी जैन भवन

बलवन्ता

ना० २-१-६५

}

— सन्तबाल

जीवदया प्रकरण

[१]

संशय तिमिर पयंगं भयियायण कुमय पुन्निमा इदं ।

काम गहंद महंदं जग-जीव हियं जिणं नमिदं ॥१॥

संशय हथी अन्धकार के लिए सूर्य, भविज जन कुमुद को विहाग करने के लिए चन्द्र, कामरूपी हाथी के बरा करने के लिए मृगेन्द्र के मरण जगत के जीवों के हितकारी जिनेश्वर को नमस्कार करता है ।

संशय तिमिर हर तरणि सम जिनका परम विज्ञान है ।

भविजन कुमुद सुविकारा कारक चन्द्रमम छविमान है ॥

करिययं मकरध्वज विदारण सिंह-मम उपमान है ।

जग के हितकर तीर्थपति को नमन मंगल रान है ॥१॥

[२]

पंच महव्यय गुरु भार धारण पंच ममिइ तिदि गुत्ते ।

नमिडग सयल समणे जीवदया पगरणं युच्छं ॥२॥

पंच महाव्यय का गुरुवर भार धारण करनेवाले, पंच ममिति, तीन गुति युक्त समस्त भ्रमणों को नमस्कार करके जीवदया प्रकरण कहता है ।

पाँचों महाव्यय के अमित गुरु भार को धारण करें ॥

मन-वचन-काया गुति, पाँचों समिति मंधारण करें ।

सकल भ्रमणों को नमन कर दुरित निष्कारण करें ।

प्राणीदया प्रकरण वचन से वैर-भद्र धारण करें ॥२॥

[३]

पालित्तय छंदणं सुत्तं अत्वं च नेय जाणामि ।

नय वागरणं विधिक्र देसी तह लक्षणं वुच्छं ॥३॥
छन्द, सूत्र और अर्थ को मैं न जानता हूँ और न उनके नियमों को पालता हूँ । न्याय, व्याकरण तथा देश्य लक्षणों को (न जानते हुए) मैं कह रहा हूँ ।

नहिं ज्ञानं मुक्कको छन्द भाषा आदि का कुछ लेश भी ।

सिद्धान्त आगम सूत्र का नहिं ज्ञान अर्थ प्रवेश भी ॥

व्याकरण लक्षण देश्य भाषा न्याय का अनुमान भी ।

हे तनिक भी मुक्कको नहीं तो भी सुनें धीमान भी ॥३॥

[४]

एयारिसयस्स महं समियव्वं पंडिण्हि पुरिसेहि ।

ऊगाइ रित्तयं जं हविज्ज अन्नाण दोसेण ॥४॥

इस प्रकार मुक्क से न्यूनता और नियम रहितता आदि अज्ञानजन्य दोष हो जायें, उनके लिए पण्डित पुरुष क्षमा करें ।

ऐसा महान अयोग्य हूँ मैं सर्वथा द्वि प्रकार से ।

न्यूनता अरु रहितता के दोष सूत्र विचार से ॥

अज्ञानता वशयत्ति से हो जाय दूषण जो कभी ।

पण्डित सुधीजन ही करें औदार्यपूर्ण क्षमा सभी ॥४॥

[५]

मग्गइ सुक्खाइं जणो ताइय सुक्खाइं हुंति धम्मणेण ।

धम्मो जीवद्वाए जीवदया होइ रखती ए ॥५॥

लोग सुख चाहते हैं, सुख धर्म बरने से होता है, धर्म जीवदया में है और जीव-दया दामा से हांती है ।

मानव सदा सुख कामना करते सदा संसार में ।
पर सौख्य प्राप्ति न हो सके विन धर्म के आचार में ॥
मद् धर्म श्रेष्ठ कहा गया है मात्र प्राणी की दया ।
क्षमापूर्वक जो करे जग जीव पर करुणा मया ॥१॥

[६]

पर बंचणा निमित्त जंपइ अलियाइं जणवओ नूणं ।
जो जीव-दया जुतो अलिणन न सो परं दुइइ ॥६॥

दूसरों को ठगने के लिए लोग जान-बूझ कर मिथ्या भाषण करते हैं,
पर जो जीवदया युक्त हैं व झूठ (विश्वागवात) के द्वारा दूसरों को
दुखी नहीं करते ।

पर बंचना के हेतु जो जन कपट का आश्रय लिये ।
जो बोलते मिथ्या वचन है घात मन निश्चय क्रिये ॥
कारुण्य प्रतिभा किन्तु जो प्राणीदया से युक्त हैं ।
पर कष्टदातृ अलीक भाषा बोलते न व्युक्त हैं ॥६॥

[७]

तण कट्टं च हरंतो दूमइ हिययाड निग्गिणो चोरो ।
जो हरइ परस्स धणं सो तस्स त्रिलुंप्प जीवो ॥७॥

नृप काष्ठ को हरने वाला भी दुर्मति हृदय वाला अतिघृणास्पद चोर
है । जो पराये धन को हरण करता है वह उसका प्राण ही नाश
करता है ।

तृण काष्ठ आदिक भी पराया जो किसी ने हर लिया ।
 दुर्मत हृदय वह चोर निर्घृण तत्त्वतः पापी हिया ॥
 जो धन पराया हरण करता वह महापापी कहा ।
 अर्थ जिसका प्राण है उस प्राण का घातक रहा ॥७॥

[८]

दन्वे ह्यमि लोओ पीडिज्जइ माणसेण दुक्खेण ।
 धण विरहिओ विसूरइ भुक्खा मरणं च पावेइ ॥८॥
 लोक में द्रव्याहत मनुष्य दुःख से पीड़ित होता है । धन रहित भूख से
 दुःखी होकर मरण तक पा सकता है ।

धन द्रव्य का इस लोक में माहात्म्य ऐसा छा गया ।
 जिसको मिला यह अर्थ मानो प्राण को ही पा गया ॥
 धन हीन और विपन्न होकर भूख की पीड़ा सहे ।
 मृत्यु पाता है तथा मरणान्त दुःखों को बहे ॥८॥

[९]

ए एण कारणेणं जो जीव-दयालुओ जणो होइ ।
 सो न हरइ पर दब्बं पर पीडं परिहरंतो ओ ॥९॥
 इन कारणों से जो मनुष्य जीवदया वाला होता है वह कभी पर द्रव्य
 हरण नहीं करता एवं कभी दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचाता ।

इस हेतु जो है सुझ सज्जन जीव करुणाकर महा ।
 पाप-भीरु प्रशान्त अरु शालीनता सद्गुण कहा ॥
 पर द्रव्य हारी पाप रत होते नहीं निश्चय कभी ।
 पीड़ा न पहुँचाते किसी को आत्म सम जानें सभी ॥९॥

[१०]

मध्यायरेण रषत्यऽ नियमं दारं च नियम मत्तीप ।
पणं कारणेणं दारं लोयाण मध्यसं ॥१०॥

यस्य श्लोक अपनी स्त्री की अपनी शक्ति के अनुसार रक्षा करने हैं ।
इसलिये कि स्त्री श्लोक में मर्याद्व मानी जाती है ।

संसार में अर्द्धांगिनी को लोग सब कुछ मानते ।
इस हेतु मय निज शक्तिमर रक्षार्थ आदर ठानते ॥
कायर कहावा है वही नर जो न रक्षा कर सके ।
धिकार उमकी शक्ति है जो नार परकीया वके ॥१०॥

[११]

नय तह दूमेइ मणं घणं च धन्नं जणरम हीरंमं ।
जह दूमिज्जइ लोओ निय दारे विहविज्जति ॥११॥
मनुष्य का धन धान्यादि हरण हो जाने में उसे उतना दुःख नहीं होता
जितना अपनी स्त्री का विनाश होते देखकर होता है ।

धन धान्य सत्ता राज्य वैभव आदि जो कोई हरे ।
यह कष्ट होता किन्तु स्त्री संयुक्त दुःख सहन करे ॥
अपमान हो लय नारि का या विधुर ही हीना पड़े ।
निःमीम दुःख होता उसे दुःग्यार्त्त ही रोना पड़े ॥११॥

[१२]

जो जीवदया जुत्तो परदारं सो न कहवि पत्येइ ।
नृणं दाराण कए जगो विदुर्व्वं समज्जेइ ॥१२॥

जो जीवदया युक्त है, वह परिवारा गमन कभी नहीं करता (क्योंकि यह शील की घात है) निश्चय ही म्रियों के प्रति कामना के कारण मनुष्य भी विनाश प्राप्त करता है ।

नारी जनों के हेतु मानव दुःख नाना सह रहे ।
कर्त्तव्यच्युत हो नष्ट हो लंकेश सम अपयश लहे ॥
प्राणी दया से युक्त जो जन अपर कष्ट न दें कभी ।
परदार गमन विभाव से विनिमुक्त हों सत्वर सभी ॥१२॥

[१२]

जारिसया उपजाइ मह देहे वेयणा पहारेहि ।
तारिसया अम्राणवि जीवाणं मूढ देहेसु ॥१३॥
जित प्रकार प्रहार करने से अपनी देह में वेदना होती है, उसी प्रकार अन्य मूक प्राणियों के शरीर पर भी होती है ।

जिस भाँति कोई क्रूर मानव चोट दे इस देह पर ।
अनुभव यही आता हमें ही वेदनाएँ असहतर ॥
ह्यों इतर असमर्थ पशु पक्षी सभी अनुभव करें ।
आत्मवत् सव सत्त्व है यह कथन सव चित में धरें ॥१३॥

[१४]

जो देह परे दुखरं तं चिय सो लहइ लवत सव गुणियं ।
वीर्यं जहा सुखिते वावियं बहु फलं होर ॥१४॥
जो पराये को दुःख देता है, वह करोड़ गुना दुःख प्राप्त करता है जैसे कि उपजाऊ खेत में बीया हुआ बीज विमृत फल देता है ।

जो जीव देता है अपर को दृष्ट मन वच काय से ।
परिपाक जत्र उम कर्म का परिणाम भोगे हाय मे ॥
जो एक योज धने विटप लागी करोड़ परंपरा ।
सों पाप बीज महा भयंकर फलित होते दुग्धरा ॥१५॥

[१५]

सयलार्णपि नहृणं दयही मुत्तूण नत्थि आहारा ।
तह जीव दया ए विना धर्मो वि न विजाए लोए ॥१६॥
गभी नदिया के अने समुद्र का छाड़कर कोई आहार नहीं है ।

वैसे ही जीवदया के बिना सांसार में बड़ी धर्म नहीं है ।

कह्लोटिनी सरिता चली गिरिशिखर से बह कर कहीं ।
नाना पर्वो से विवरती आधार मात्र उदधि जहीं ॥
सों धर्म सर्व प्रकार का आधार जीवदया कही ।
उसके बिना नहीं धर्म धर्मात्मा मय जानो मही ॥१६॥

[१६]

इह विषय जीवदया जणै लोयंमि मयल मुग्घाई ।
जह मलिलं धरणि गयं निपायइ मयल मस्माई ॥१७॥

एक जीवदया ही सांसार में समस्त सुखों की देने वाली है । जैसे
कि पृथ्वी में पानी जाकर समस्त शुभ्य (धान्यादि) उत्पन्न करता है ।

सर्व सौख्य विधायिकी इह मात्र है इम लोक में ।
श्री दया माता कही पावन हृदय में जो रमें ॥
ज्यों नीर पृथ्वी उदर में जा शस्य यह उरजावती ।
सों सर्व धर्म क्रियादि का प्रतिकूल यही मरसावती ॥१७॥

[१७]

नय किंचिद्दहं लोपे जीयाहिं तो जियाण ददयं परं ।
 अभय पयाणाउ जगे नहु अन्नं उत्तमं दार्णं ॥१७॥
 इस लोक में जीवों के प्रति दया से बढ़कर कुछ भी नहीं है । अभय-दान
 से उत्तम जगत में कोई अन्य दान नहीं है ।

इस लोक में है सार शुभ उपदेश धर्माचरण का ।
 प्राणीदया का तत्त्व भस्वन रूप अशरण शरणता ॥
 जिस हृदय में हो प्रतिष्ठा वीर त्याग महानता ।
 सब दान में है श्रेष्ठ वोला पद अभय के दान का ॥१७॥

[१८]

प्राणि-बध पायवाधो फलाइं कडुयाइं हुंति घोराइं ।
 नय कडुय वीय जायं दीसइ महुरं फलं लोपे ॥१८॥
 प्राणि-बध रूपी वृक्ष के फल अत्यन्त कटुक होते हैं । लोक में कमी कटुक
 बीज से मधुर फल उत्पन्न होते नहीं देखे जाते ।

प्राणि बध के बीज का जब विटप विकसित हो रहा ।
 फल फूल होंगे अति कटुक परिणाम जीवन खो रहा ॥
 जैसा बपन हो क्षेत्र में परिणाम लाभ निदान में ।
 क्या मधुर फल देखते कोई कटुक आधान में ॥१८॥

[१९]

निषाउ न होइ गुओ उच्छू नय हुंति निय गुलियाओ ।
 हिंसाए न होइ सुहं नय दुखलं अभय दाणेणं ॥१९॥

मीम से कभी गुड़ नहीं होता और इक्षु से कभी निबोली नहीं होती ।
हिंसा में कभी सुख नहीं मिलता और अमयदान से कभी दुःख नहीं
होता ।

वपन करके निम्न तरु को गुड़ कहाँ निपजायगा ।
ईख धो करके कभी निबोली फल क्यों पायगा ॥
जीव-हिंसा-रक्त प्राणी को न सुख होगा कभी ।
अमयदाता व्यक्ति को दुःख वैर होगा ना कभी ॥१६॥

[२०]

जो देइ अभयदानं देइय सुक्याइं सख्य जीवाणं ।
उत्तम ठाणमि ठिओ सो भुंजइ उत्तमं सुखं ॥२०॥
जो अमयदान देता है और सब जीवों को सुख पहुँचाता है वह उत्तम
स्थान में स्थित होकर उत्तम सुखों को भोगता है ।

मन वचन काया से अमय देना यही शुभ ध्यान है ।
सर्व भूतों में दया सम्पूर्ण सुख की खान है ॥
स्वर्गापवर्ग मनुष्य गति में उच्च पद पाता वही ।
सुख भोग उत्तम आत्म सुख-भोक्ता वही होता सही ॥२०॥

[२१]

लोभाओ आरंभो आरंभाउय होउ पाणि-यहो ।
लोभारंभ नियत्ते नवरं अह होइ जीवदया ॥२१॥
लौभ से आरंभ, आरंभ से प्राणिवध होता है । लोभ एवं आरंभ से
निवृत्त होने पर वेधल जीवदया ही रह जाती है ।

[२४]

धर्मं करोह तुरियं धम्मेण यं ह्येति सव्यं सुकथाइं ।
 जीवदया मूलेणं पंचिन्द्रिय निग्राहेणं च ॥२४॥
 दान, शील, तप धीर भावमय चतुर्विध धर्म करो ! जीवदानमूल और
 पंचेन्द्रिय निग्रह से सत्र गुण होंगे ।

तप, दान शील स्वभाव युत सद्धर्म का आचार है ।
 व्यवहार कर उनका सतत जो सर्व सुख का द्वार है ॥
 धर्म की जड़ है अहिंसा करो मिथन प्रेम से ।
 पंचेन्द्रियों को यश करो रखो सदा ही नेम से ॥२४॥

[२५]

अं नाम क्विचि दुक्खं नारय तिरियाण तहय मणुयाणं ।
 तं सव्यं पापेणं तम्हा पावं विवज्जेहा ॥२५॥
 कुछ भी दुःख जो नारक, तिर्यक और मनुष्यों को दिखायी देता है
 सब दिमा रूप पाप से होता है इसलिए यह पाप मन करो ।

सप्त नारक और तिर्यक् की विविधता में
 और नरभव योनि में जो दुःख जाता है
 सब पाप का परिणाम है सौ बात की यह बात
 वर्जित करो सब पापकारी कार्य जो दिन रात

[२६]

नर नरवद्दे देवाणं अं सुकलं मव्यं क्विचि
 तं धम्मेण विटप्पइ तम्हा धम्मं सुकलं क्विचि

मनुष्य, रागा और देवों को जो सर्वोत्तम भुज होता है, यह तर (दया रूप) धर्म से ही मिलता है, अतः सर्वदा यही धर्म करो ।

जो मनुज देवादि गति में उच्चता संपात है ।
 सुख शांति साता युक्त ऋद्धि समृद्धि से परिव्याप्त है ॥
 उपलब्धि होती है निकेवल धर्म के आचार से ।
 करते रहो तुम सर्वदा ही धर्म शुद्ध विचार से ॥२६॥

[२७]

जाणइ जणो मरिज्जइ पिच्छइ लोयं भरंतयं अन्तं ।
 नय कोइ जए अमरो फह सहवि न आवरो धम्मे ॥२७॥
 मनुष्य जानता है कि मरना है, और दूसरों को मरते हुए देखता है । जब कोई मरे बिना नहीं रहता तो फिर धर्माचरण क्यों नहीं करता ?

नर जानता यह है कि निश्चय जन्म ही मरता सदा ।
 प्रत्यक्ष जाते देखता है धूल में मिलता सदा ॥
 जय नहीं कोई अमर है गर्व इसका क्यों करे ?
 कर धर्म ही में सतत उद्यम ताकि काल स्वयं मरे ॥२७॥

[२८]

वच्छिन्ना किंतु जरा नट्टा रोगाय किं मयं मरणं ।
 ठइयं च नरयदारं जेण जणो न कुणए धम्मं ॥२८॥
 क्या हम वृद्धावस्था को आते हुए रोक सके ? क्या हम रोगों का निवारण कर सके ? और क्या मृत्यु को मार सके ? यदि ऐसा नहीं कर सके तो निश्चय है कि जीतेशी स्वभाव में स्थिर हुए बिना नरक द्वार निश्चय है ।

हम जरा मुक्त न हो सके रोगादि को न मिटा सके ।
निज धर्म में हो स्थिर मरण भय को न हाय हटा सके ॥
नरक निश्चित है हमारे पाप जीवन के लिये ।
आत्मभाव प्रभाव से आनन्द होता है हिये ! ॥२८॥

[२६]

दूसह दुह संतावं ताव न पार्षिति जीव संसारे ।
जाव न सुह सत्तार्णं सत्तार्णं जंति सम भावं ॥२६॥
जब तक ममभाव पूर्वक सब जीवों के सुख का विचार नहीं करता तब तक वह दुःख सन्ताप से निवृत्त नहीं हो सकता ।

सत्त्वेषु मैत्री का न जिसको भाव जीवन में हुआ ।
हनन कर सब जीव को मम भाव से भव भव मुआ ॥
समभाव से सम्पन्न हो सब जीव रक्षण ठानता ।
दूसह दुःखों से विरत हो सिद्धि साध्य पिद्धानता ॥२६॥

[३०]

धम्मो अत्थो कामो अन्तो जे एव माइया भावा ।
हरइ हरंतो जीयं अभयं दितो नरो देइ ॥३०॥
धर्म, अर्थ, काम इत्यादि अन्य भी जो पदार्थ हैं उन्हें प्राण हरण करनेवाला नष्ट कर देना है और अमयदान देता हुआ देता है (प्राप्त कर लेता है) ।

जो अभय दाता सभी का अर्थ पाता है सभी ।
धर्म मोक्ष सुकाम से सम्पन्न होता नर तभी ॥

जीव हर्ता अन्य का खोता सभी पुरुषार्थ है ।
एक यह उपदेश केवल शुद्ध आत्म हितार्थ है ॥३०॥

[३१]

सो दयो सो तवसी सोह मुही पंडितो य सो चेष ।
जो मयल सुपन्न धीर्यं जीवदयं कुण्ड खंति च ॥३१॥
जो दयावान है वही तपस्वी, वही सुगी और वही पंडित है, जो समस्त
मुखों के बीजभूत जीवदया को क्षान्तिपूर्वक पालन करता है ।

जो है दयाधारक पुरुष वह ही तपस्वी जानिये ।
पंडित विचक्षण भी वही जो सदय निश्चय मानिये ॥
पालन करे जो क्षान्ति-पूर्वक सर्व भूतों में दया ।
सुख बीज सुखदायक सदा माता अहिंसा सदया ॥३१॥

[३२]

किं पट्टिण सुपण व वपखाणियण काइ किरसेण ।
जत्थ न विज्जइ एयं परस्स पीड्ढा न कायव्वा ॥३२॥
पराये को पीड़ित नहीं करना, यदि इतना भी ज्ञान नहीं है तो पढ़ने
से क्या ? सुनने से क्या ? और व्याख्यान आदि करने में क्या
रखा है ?

पठन पाठन और श्रोता वक्तृता में क्या रखा ।
व्याख्यान आदि सब कलाएं व्यर्थ तुम जानो सखा ॥
पर पीड़ करना पाप है इतना न जिसको ज्ञान है ।
वह बाल जीवात्मा महा मिथ्यात्वमय नादान है ॥३२॥

स्वजन, परिजन और धनादि में कौन शाश्वत बुद्धि करे ? जब कि प्रत्यक्ष ही जरा और मृत्यु उन्हें छेदने के लिये दौड़ रहे हैं ।

ये स्वजन परिजन मित्र आदिक आज हैं तो कल नहीं ।
धन धान्य या घर दार सख्य होते नहीं अविचल कहीं ॥
कौन शाश्वत बुद्धि धरता जो क्षणिक महमान है ।
जरा रोग कृतान्त करता नित्य सर सन्धान है ॥३५॥

[३६]

परमेसर माईया ता पिच्छह जाव हुं च चंडाला ।
कस न जायइ दुखवं सारीरं माणसं चैव ॥३६॥
परम समर्थ पुरुष सं लेकर डोम, चाण्डाल आदि मनुष्यों को पूछ लो,
शारीरिक और मानसिक आधि व्याधि में कौन पीड़ित नहीं है ?

चक्रवर्ती वासुदेव सुशक्ति-धर भूपाल भी ।
समृद्धिशाली निम्न गोत्री डोम या चांडाल भी ॥
प्रिय विद्योग शरीर दुःख से बच नहीं सकता कहीं ।
इसलिये निज सुख रमण अतिरिक्त कोई पथ नहीं ॥३६॥

[३७]

अड्डा भोगा सत्ता दुग्गय पुण पुट्ट भरण तल्लिच्छा ।
तो वि न कुणति घम्मं कइ पुण सुखं जए होउं ॥३७॥
संपन्नजन भोगामक्त, दुर्गत-दारिद्र्यवश पेट भरने में तत्पर हैं । फिर
भी दयामय धर्म नहीं करते, फिर उन्हें सुख कहाँ से हो ?

आह्वयता की प्राप्ति कर आसक्त भोगों में सदा ।
दारिद्र्य दुख या जीविका भय से न मुक्त हुए कदा ॥

कर विषय इच्छा जन्म शोभा और सुखा बढ़ राने
फिर सौख्य कैसे पायगा मद्रमे दिन निरुद्ध राने ॥३७॥

[३८]

दियहं करेह कर्म दारिद्र ह्यदि पूर करण्यं
रयणीसु जेय निहा विताप धर्म राने ॥३८॥

दारिद्र्य के मारे पेट भरने के लिए दिन भर काम करता है और सुख
रहित की रात्रि में भी चिन्ता के मारे निद्रा नहीं करती ।

छाया नहीं है पूर्व के मन्त्रम करने मद्र मे
तो पेट भरने के लिये कैसे बर्षण करे ॥
दिवस भर है कष्ट करता कठिन धन फिर करे ॥
रात में निद्रा न पाता पल मिते दुःखमे ॥३८॥

[३९]

मणि धन कण्ठ ममिद्धा धन्ना मुक्तिं दैवै कर्मणः
ते ध्यासादय मुफलं पुण्येय धर्म विदु इति ॥३९॥

कई लोग मणि, कंचन और धन समृद्धि में कुछ श्रद्धा है । मुक्तकण्ठ
करके भी जो दयारूप धर्म करते हैं, वे धन्य हैं ।

मणि-रत्न और सुवर्ण धन बहुत बन्धने मन्त्रादि हैं ।
समृद्धिशाली भोग सामग्री का बहुत विचार है ॥
वे भोगते सुखत कमाई पुनः धर्म ध्यासादं ।
हैं धन्य वे कृतपुण्य हित सुख मोक्ष का ही पद धरें ॥३९॥

[४०]

जे पुण जन्म दरिद्रा दुहिया परपेस रोग मग्घाया ।
काऊण ते वि धम्मं दूरं दुक्खाण वच्चंति ॥४०॥

फिर जो जन्म दरिद्री, दुःखी, पराये नौकर व रोगग्रस्त हैं, वे धर्म करके दुःखों को दूर क्यों न करें ? (अर्थात् अवश्य करते हैं)

दुष्कृत्य उदय प्रभाव से निर्धन बने होकर दुःखी ।
पर मुखापेक्षी तथा हैं रोगग्रस्त चतुर्मुखो ॥
फिर भी अगर सन्तोष पूर्वक धर्म में लग जायेंगे ।
फर नष्ट दुःख परम्परा शाश्वत सुखों को पायेंगे ॥४०॥

[४१]

जो कुणइ मणे खंती जीवदया महव जुवं भावं ।
सो पावइ निव्व्याणं नय इंदिय लंपहो लोओ ॥४१॥

जो मन में क्षांति, मार्दवपुक्त भावों से जीवों पर दया करते हैं, वे ही निर्वाण लाभ करते हैं पर इन्द्रिय लम्पट लोग नहीं ।

जो शिष्टजन निज चित्त में शुभ क्षांति को धारण करें ।
मार्दव तथा आर्जव सहित सब प्राणि पर करुणा धरें ॥
निर्वाण सुख की वे महात्मा प्राप्ति सत्वर ही करें ।
शम-दम-वित्तिक्षा हीन नर शिवसुन्दरी कैसे करें ? ॥४०॥

[४२]

जो पहरइ जीवाणं पहरइ सो अत्तणो सगत्तेसु ।
अप्पाणं जो वइरी दुक्ख सहस्साण सो भागी ॥४२॥

जो जीवो—प्राणियों पर प्रहार करता है, वह अपनी ही आत्मा पर मर्यकर प्रहार करता है। वह हमारी दुःखों का भाजन होता है, मतः वह अपनी आत्मा का स्वयं ही शत्रु है।

जो अन्य प्राणी पर करें निज अस्त्र शस्त्र प्रहार को।
 वे कर रहे नादान अपने आप के संहार को ॥
 पर दुःखकारी आप ही जो दुःख पायेंगे मदा।
 पर शत्रु अपने शत्रु हैं मन दुःख भातों से सदा ॥४०॥

[४३]

जो कुगड जणो धम्मं अप्पाणं मो मया मुदं बुज्जइ।
 संखय परो य सुप्पिय संपइ मुह संचयं जेण ॥४१॥
 जो मनुष्य परम करता है, वह अपने को ही मना मुग्ध करता है। संचय-
 शील परी है जो सुख मंचित करता है।

जो नरोत्तम धर्मरत्न रहता परम उपकार में।
 उपकार अपना ही करे वह हो मुग्धी संसार में ॥
 पर हित मदा संचय करें वे श्रुट संचयकार हैं।
 वे स्वयं के स्वामी यनें जानन्दू के आगार हैं ॥४३॥

[४४]

जो देइ अभयदानं मो सुव्वय सयाइं अप्पणो देइ।
 जेण न पीइइ परं सेण न दुक्खं पुणो तस्स ॥४४॥
 जो जीवों को भ्रमपदान देता है, वह सर्वदा अपने पर ही सुख देता है।
 जो श्राव्ये को पीड़ित नहीं करता उसे फिर स्वयं दुःख नहीं होना

देता रहे जो प्राणियों को अभयदान प्रधान है ।
 वह शान्ति अपने आप को ही दे रहा असमान है ॥
 जो कभी करता नहीं पर पीड़नादिक पाप को ।
 वह भी अभय है सर्वदा डाले न दुःख में आपको ॥४४॥

[४४]

जह देवलस्स पीढो रंघो रुक्खस्स होइ आहारो ।
 तह एसा जीव-दया आहारो होइ धम्मस्स ॥४५॥
 जैसे देवालय के लिए देव-पीठ और वृक्ष का आधार स्कन्ध है, वैसे ही
 यह जीवदया धर्म का आधार है ।

देव मन्दिर मध्य जैसे वेदिका ही सार है ।
 स्कन्ध ही होता सदा तरुराजि का आधार है ॥
 यों धर्म का आधार मानो प्राणी संयम या दया ।
 इसके विना नर देह पाकर व्यर्थ ही जीवन गया ॥४५॥

[४५]

जो होइ जाण जोगो तेह्लुके उत्तमाण सुखखणं ।
 सो एयं जीवदया पड्डिवज्जइ सब्ब भावेण ॥४६॥
 तीनों लोक में उत्तम सुख का स्थान यदि कुछ जानने योग्य है तो यह
 कि जीव-दया को सर्वतोभाव से स्वीकार करना ।

त्रैलोक्य में उत्तम सुखों का एक ही कारण सदा ।
 मन वचन काया योग में हो प्राणिरक्षण सर्वथा ॥
 हिंसा कही है दुःस्ववर्द्धक यह अटल सिद्धान्त है ।
 जो दयामय धर्म माने दृष्टि वह निर्ध्रान्त है ॥४६॥

[४७]

जीवदय सच्च धयणं परधण परिवज्जणं सुसीलत्तं ।

स्यंती पंचिन्द्रिय निगहोय धम्मो(दुम्म)स्स मूलाइ' ॥४७॥

मत्स्य वचन, पर द्रव्य त्याग, सुशीलत्व, क्षाति तथा पंचेन्द्रिय-निग्रह महित जीव-दया धर्म रूपी वृक्ष के मूल हैं ।

प्राणीदया, सच्चा वचन, पर द्रव्य परिवर्जक कथा ।

सन् शील व्रत अरु श्रान्ति भी है पंच इन्द्रिय निग्रहा ॥

ये धर्म-रूपी वृक्ष के हैं मूल अंग कहे गये ।

इनको सदा धारण करें वे मौल्य पाते नित नये ॥४७॥

[४८]

भय-रोग-सोग जर-भरण गच्च दुव्विसइ वेयणाइन्नं ।

इट्ट वियोगासारं किं न मुणह एरिसं लोयं ॥४८॥

भय, रोग, शोक, बुढ़ापा, मृत्यु, गर्भानासादि की दुग्गह वेदना और इष्ट वियोगादि वाला यह अमार संसार है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

अष्ट-भय-प्रह रोग नाना शोकमय संसार है ।

गर्भ, जन्म, जरा - मरणमय दुःख अपरम्पार है ॥

समता न हो संसार में संसार होता भार है ।

क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥४८॥

[४९]

यालत्तणए तह जुव्वणेय मज्झिम वए य धेरत्ते ।

मरण भण्णुव्विगं किं न मुणह एरिसं लोयं ॥४९॥

बाल्यकाल, मोहन, प्रौढावस्था और वृद्धावस्था में सर्वत्र यह लोक मरण भयोद्देश्य वाला है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

यह काल बाल युवा अवस्था को न कुछ भी मानता ।
 प्रौढ हो या वृद्ध हो दारिद्र्य ही कि महानता ॥
 मरणभय उद्देश्य, सुख की भ्रान्ति का विस्तार है ।
 क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥४६॥

[५०]

दुर्मिष्व डमर तस्कर दुह सय दुमिज्जमाण दुमणस्स ।
 इद्व-वियोगासारं किं न मुणह एरिसं लोयं ॥५०॥

दुर्मिष्व, डमर, तस्कर, दीर्घनस्यादि सैकड़ों दुःखों से दुःखी इष्ट वियोगादि के कारणभूत इस संसार को अगार क्यों नहीं मानते ?

दुर्मिष्व ही जब देश में सब जीव दुःख सदा सहें ।
 डाकू लुटेरे चोर तस्कर रोग भय क्या-क्या कहें ।
 जो उपाय करें सभी होते यहाँ निःसार है ।
 क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥५०॥

[५१]

कुल बालियाण रंडत्तणाइं तारुण्य एय दोहमं ।
 पिय विष्पओग दुहियं किं न मुणह एरिसं लोयं । ५१ ।

पिय के वियोग से तारुण्य में ही दुःखी और बाल-वैधव्य से अनेक कुलीन बालाएँ पीड़ित हैं, फिर ऐसे संसार को दुःख-पूर्ण क्यों नहीं मानते ?

कुलवान घाला को यहाँ वैधव्य अति दुःखकार है ।
 तारुण्य में दुर्भाग्य दुःख महना महा असिधार है ।
 प्रिय विप्रयोग अनिष्ट योगज कष्ट का विस्तार है ।
 क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥११॥

[१२]

राज्य भर गरुड पीड़िय कालिय घड्डंत जणिय संताप ।
 दुहितं किलेस बहुलं किं न मुणह परिसं लोयं ॥१२॥

राज्य के असाह्य गुरुतर कर भार की पीड़ा से बढ़ता हुआ जन संताप
 अन्य दुःख वाले लोक को क्लेश बहुत क्यों नहीं मानते ?

राज्य सत्ता के करों का असह गुरुतर भार है ।
 घड़ रहा सन्ताप जनता का कहीं निस्तार है ।
 भूख भी मिटती नहीं दुष्कर्म फल संचार है ।
 क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥१२॥

[१३]

पर कम्मोणककंतं निच्चं चिय पुट्ट भरण तल्लिच्छं ।
 धम्म मुइ विण्णणट्टं किं न मुणह परिसं लोयं ॥१३॥

पराया काम करते हुए नित्य ही पेट भरने में तल्लीन, धार्मिक पवित्रता
 या भुक्ति से रहित पेट लोभ है, यह क्यों नहीं मानते ?

उदर पोषण के लिये करते अधर्मी चाकरी ।
 पेट भी भरता नहीं हिंसा अधिकतम आचरी ॥
 पर काज करते रात दिन भुक्ति को किया बेकार है ।
 क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥१३॥

[१४]

कामेण अत्थ पर मग्गणेण तद्द खेव दाण गहणेण ।
निहंपि अलहमाणं किं न मुणह परिसं लोयं ॥१४॥

अर्थ-कामना से पीड़ित हो मगतापन स्वीकार करने में कितना दुःख होता है ? फिर दान लेते समय कितनी लज्जा उत्पन्न होती है और अगर नहीं मिला तो फिर दुःख का पूछना ही क्या ? इस प्रकार का संसार क्यों नहीं मानते ?

कामना हो अर्थ को उस हेतु करते याचना ।
मांगने पर लाज छूटी यिन मिले दुःख भाजना ॥
मांगने से मौत अच्छी क्या करे लाचार है ।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥१४॥

[१५]

खण रुद्धं खण तुद्धं खण मित्तं खेवन्नूण वेलवियं
खण दिद्ध नद्ध सुखं किं न मुणह परिसं लोयं १५॥

क्षण में रुट, क्षण में तुष्ट, क्षण में मैत्री, क्षण में प्रतारणा, क्षण में देखते-देखते नष्ट होता हुआ सुख, क्यों नहीं मानते कि यह लोक ऐसा ही है ।

क्षण रुष्ट क्षण में तुष्ट हों ऐसे विलक्षण लोक हैं ।
क्षण मित्रता क्षण शत्रुता क्षण शोक हों कि अशोक हैं ॥
भोगते ही भोगते सुख भी बना निःसार है ।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥१५॥

[१६]

सारीर माणसेहि य दुखलेहि समुत्थयं निराणंदं ।
अल्प सुखं बहु दुखसं किं न मुणह परिसं लोयं ॥१६॥

शारीरिक या मानसिक दुःखों से आच्छादित, निराणंद, अल्प सुख और बहु दुःखमय यह लोक है ऐसा क्यों नहीं मानते ?

देह में दुष्कमे दण्डित कष्ट का परिवार है ।
आनन्द श्रृंखा भी यहाँ पर स्वयं बंधाधार है ॥
अल्प सुख बहु पाप का फल दे रहा धिक्कार है ।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥१६॥

[१७]

दुज्जिमिय दुन्नियत्थं दुज्जण दुच्चयण दूमिय मरीरं ।
धिता दूमिय मणसं किं न मुणह परिसं लोयं ॥१७॥

दुर्नीत से प्राप्त दुष्ट भोजन के लिए दुर्जन के दुर्वचनों से फल दुःख, चिन्ता से दुःखी मनवाला लोक है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

इस पेट पापी हेतु महते दुर्जनों के दुष्ट हैं ।
तो भी न भरता है यहाँ पर हाथ कैसा दुष्ट है ।
पेट भरता किन्तु पेटी भरण चिन्ता मार है ।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥१७॥

[१८]

चण्डाल दुंय मोरद्विण्हि मध्याऽ अदम्यं दाहं हि ।
मिच्छे हिय पज्जतं किं न मुणह परिसं लोयं ॥१८॥

यहाँ चाण्डाल, डोम, श्वपच आदि सभी अधम जातियों से भरे हुए मिथ्या हृदय वाले लोक हैं, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

चाण्डाल हुंवादिक अधम जन सदा हिंसा-रक्त है ।
मद्य आदिक भग्न व्यसनों में परम आसक्त हैं ॥
हृदय तम-मिथ्यात्व छाया तमतमा का द्वार है ।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥५८॥

[५९]

जन्मण मरण रहट्टे अट्टसु पहरेसु घड़िय दावड़ए ।
घड़िमाल घवहंतं किं न मुणह परिसं लोयं ॥५९॥

आठों पहर जन्म मरण का चक्र अरहट के घटमाल की भाँति चलने वाला लोक है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

कूप की घटमाल भरती रिक्त होता ज्यों वहे ।
ल्यों रात-दिन संसार में हैं जन्म लेकर मर रहे ।
सुख कहीं रोदन कहीं यों घृहत् नाट्यागार है ।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥६०॥

[६०]

घासा रत्ते विञ्जुलय विद्दुयं सिसिर सीय संलिन्नं ।
गिम्हिखि धम्मनद्धियं किं न मुणह परिसं लोयं ॥६०॥

यहाँ श्रुत में रिजली से अभिभूत, शिशिर में शीत से संयुक्त, घीष्म श्रुत से घाम से पीड़ित विडम्बित लोक है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

धरसात में चमकें कड़क कर बिजलियाँ गर्जा करें।
शिशिर में शरदी अधिक तन काँपते धर-धर मरें ॥
प्रीप्स में सब ताल सूखे देह घाम-प्रसार है।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥६०॥

[६१]

पर पेस दास दुग्गय लेहारिय लोह छोलया बहुलं।
पुट्टलिया सय दुहियं किं न मुणह परिसं लोयं ॥६१॥
पराधीनता से दुर्गंत और बहुतसे लेखाचार्य (उपाध्याय) भी लोभ लोलुप
लंपट और भेट के लिए सदा दुखी लोक है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

दास आजीवन घने पशु भाँति पीड़ाएँ सहें।
उदर भरने को तरमते अर्थ लोलुप जन रहें ॥
लेखनी के भी धनी इस भाल लेख शिकार हैं।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥६१॥

[६२]

कण्णुट्ट द्विन्न वयणं द्विन्नं तह नासियाए अंगं च।
कोढेण भिणभिणंतं किं न मुणह परिसं लोयं ॥६२॥
कुष्ठ रोग से कान बाँट और मुख द्विन्न हो गया, वैसे ही नाक और
दूसरे अंग भी द्विन्न होकर मक्खियों भिन्नभिन्नाती हैं, ऐसा लोक है,
क्यों नहीं मानते ?

कर्ण मुख ओष्ठ्यादि जिनके गलित सारे अंग,
रक्त रस्सी चिक-चिकाता कुष्ठ इन्द्रिय

भक्षिष्यो की भिनभिनाहट का घना परिवार है ।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥६२॥

[६३]

काऊग पाप कर्म गंतुं नरणसु तहय तिरिणसु ।
दुषखाइ अणुह्वंतं किं न मुणह परिसं लोयं ॥६३॥

पाप कर्म करके नरक और तिर्यंच गति में जाते तथा दुःखों का अनुभव करते देव वर भी लोक के इस स्वरूप को क्यों नहीं मानते ?

पाप कार्यासक्त होकर विषयगत होते यदा ।
नरक तिर्यक योनियों में दुर्दशा भोगं सदा ॥
प्रत्यक्ष भूख तृषादि घघ वन्धन तथा अतिभार है ।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥६३॥

[६४]

पक्षि सिरीसिच जलयर चळपय तुत्तुञ्ज घह समुञ्जंतं ।
मणुणसु विहम्मंतं किं न मुणह परिसं लोयं ॥६४॥

पक्षी, सरीसृप, जलचर चक्षुष्यदादि का वध होता है तथा मनुष्य भी नष्ट हो रहे हैं । ऐसा लोक है, क्यों नहीं मानते ।

क्रौंच, तीतर, बाज, खेचर नाम से विख्यात हैं ।
साँप अजगर गोह सरिसृप और चौपद जाति हैं ॥
प्रत्यक्ष वध करते मनुज नरमेघ का विस्तार है ।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥६४॥

[६६]

धर करह महिय मयिस तुरय बहय सह बेमराह वा भीमं ।
गुरु धार बहण म्बिन्नं किं न मुणह परिमं लोयं ॥६६॥

गधा, ऊँट, भैंसा, पाडा, घोडा, घोड़ी तथा खर या मिथ्र गुफर भार धरन करने से म्बिन्न पैगा सोक है, यह क्यों नहीं मान्ते ?

शकट मे जुन बैल भंमा अरय आदिक दुःख महे ।
ऊँट गर्दभ और गन्धर भार गुफर हो यहें ॥
म्बिन्न हो अत्यन्त परवरा चायुकों की मार है ।
क्यों नहीं तुम मानते संभार दुःखागार है ॥६६॥

[६६]

पुढिय जल-जलण माग्गय तग क्कय वगस्सहेहिं विथिहादि
एणमु अपज्जनं किं न मुणह परिमं लोयं ॥६६॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मृत्त वृक्षादि विविध वनस्पति में अरदांम उपजते हैं, पैगा संभार है क्यों नहीं मानते ?

स्वगं मिट्टी प्रानरादिक पृथिव जल की काय है ।
अग्नि वायु हरित् वनस्पति विथिध यद्द वनराय है ॥
सब पुण्यहीन निगोद योनि अनन्त अपरम्पार है ।
क्यों नहीं तुम मानते संसार दुःखागार है ॥६६॥

[६७]

पवं जीवदया विरहियस्स जीवस्म मूढ हिययस्म ।
किं अत्थि किंचि मुक्खं तिल तुम मित्तपि संभारे ॥६७॥

इस प्रकार जीवदया रहित मूढ हृदय जीव को क्या तिल और तृण मात्र किञ्चित् भी संसार में कहीं सुख है ?

इस तरह यह मूढ मति प्राणो भ्रमित संसार में ।
ज्ञान और दया रहित दुष्कर्म के व्यवहार में ॥
तिल मात्र सुख मिलता नहीं तृष्णा विषय के जाल में ।
दुःख ही केवल सहा है आर्त्त वन बेहाल में ॥६७॥

[६८]

जज्जर जज्जरिय सकज्जलाइं दरभग भित्ति भागाइं ।
मडदाइं मंगुलाइं गोदाइं तमणि रहियाइं ॥६८॥
जीर्ण होने से जर्जरित, कल्मष ने काले कलूटे, दीवाल व दरवाजे जिसके टूटे पूटे हैं ऐसे छोटे व खराब घरों में वर्त्तन भाँड़ों से रहित—

धूस्र से काला कलूटा जर्जरित है सवंधा ।
द्वार भी टूटे हुए हैं भग्न दीवालें तथा ।
मलिनतम गन्दे घरों में वसन-वासन भी नहीं ।
परिणाम हैं उस पाप के पाली न जीवदया मही ॥६८॥

[६९]

जं दियहं दारुण दूसहेहिं दारिद्र दोस दुहिएहिं ।
सी-उण्ह-त्राय परिसोसिएहिं कीरंति कम्माइं ॥६९॥

जो दारुण, दुस्तह दारिद्र्य दोष से दुःखी शीत तथा गरम वायु से परि-
शोषित, काम करते हुए दिन बिताते हैं ।

दारुण दुःखों में घीतते दिन कठिन और असह्य भी ।
दारिद्र्यता दूषण महा चिन्ता - चिन्ता सी जल रही ॥

शीत में नहि घस्य लू में तीम परिशोपित रहे ।
दर पोपण हेतु भ्रमता दुःख भीषणतम सहे ॥६६॥

[७०]

जं पर घर पेसण कारएहिं सीयल य विरस रुक्म्याइं ।
भुंजंति अवेला भोगणाइं परिमूय लद्दाइं ॥७०॥

जो पराये घर पीमना आदि कर के ठण्डा, निरम, रुखा-गूखा अन्नद
भोजन करते हैं और वह भी तिरस्कार पूर्वक प्राप्त होता है ।

पीस चक्की पर घरों में कठिन धन्ये भी क्रिये ।
ममय असमय शुष्क रुखा ग्वाय कैसे भी लिये ॥
मान या अपमान भोगे जन्म हो करके नरे ;
परिणाम है उस पाप के पाठी न जीवदया अरे ॥७१॥

[७१]

जं दूहव दूसह दुकलत्त निज्वं च कल्ल-ल्लिहं ।
तेहिं समं चिय कालो निज्जइ अच्चंत्तं दुक्कल्लं ॥७१॥

जो दुभंग, दुस्वह और नित्य ही कलहकांक्षी दुकल्ल (दुःख) है ।
समके साथ अत्यन्त दुःख से काल व्यतीत करन; दुःख है ॥

दुःशील वाली कर्करा नारी लिल्लि दुःखे मे ।
क्लेश करती ही रहे जो दूर हो कल्ल-ल्लिहं ॥
जीवन विताना साथ ठमके दुकल्ल-ल्लिहं है नरे
पाप का परिणाम है यह जाय ही कल्ल-ल्लिहं कल्ल-ल्लिहं ॥

[७२]

जं मइलिय चीर नियंसणेहि सिर लुक्क पुट्ट चरणेहि ।
परिसक्किज्जइ दीणं आहारं पत्यमाणेहि ॥७२॥

जो मलिन चीर-वस्त्र से सिर ढँके, फटे पाँवों से दैन्यपूर्णक आहार के लिए प्रार्थना करती हुई असकृत होती है ।

मैले कुचैले चीर कन्या युक्त जर्जर हो रहे ।
सिर देह रहते हैं उघाड़े नागरिकता खो रहे ॥
फटे नंगे पाँव से जा हीनता यों याचती ।
अधन्या हो हीनपुण्या द्वार - द्वारे प्रार्थती ॥७२॥

[७३]

जं खास सोस सिर वेयणाहि खय कोड चक्खु रोगेहि ।
अट्ठी भंगे हिय वेयणाओ विविहाउ पार्विति ॥७३॥

जो खास, श्वास, शिरपीड़ा, क्षय, कुष्ठ, चक्षुरोग, हड्डी टूटने एवं हृदय रोगादि से विविध वेदना पाते हैं ।

क्षय कुष्ठ सिर की वेदना या चक्षु आदिक रोग हैं ।
अस्थि टूटी हृदय रोगी फर्म के सब भोग हैं ॥
रोम प्रति हैं रोग ढाई प्रगट हों असमाधियं ।
बन्धन समय चेतें नहीं रोवे उदित जब व्याधियें ॥७३॥

[७४]

जं इह विओगाक्कंदणेहि दुव्ययण दमिय मणेहि ।
पिज्जइ लोणंसु जलं दुह मसमं उव्वहंतेहि ॥७४॥

जो दुर्वचनों से दुःखित मन से इष्टवियोग के आक्रन्दन द्वारा अभुक्ती का खारा जन पीते हुए वसह्य दुःख महन करते हैं ।

दुयोंग इष्ट-वियोग ही मिलते कुकर्माधीन हो ।
दुर्वचन से दुःखी हृदय आक्रन्द करते दीन हो ॥
अधुजल खारा वियें वे अन्नरात्मा में दहे ।
बंचित अहिंसा साधना से कर्म फल दारुण महे ॥७१॥

[७१]

जं काना न्योड़ा वामणाय तह चेत्र रूप परिहीणा ।
उप्यज्जन्ति अणंता भोगेहि विवज्जिया पुरिमा ॥७२॥

जो काना, पोड़ा (लंगड़ा), वामन और रूपहीन अनन्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे सुख भोग से विरजित हैं ।

काणं कुट्टगे अन्ध लंगड़े और घीने मन रहे ।
हीनाङ्ग ऐसे हैं असंख्यां कौन कैसे क्या कहे ? ॥
विविध पाप प्रधान जीवन योनियों की गति सहे ।
बंचित अहिंसा साधना से कर्म फल दारुण सहे ॥७२॥

[७२]

इयं जं पाविति दुह सयाइं जण हियय सोस जणयाइं ।
तं जीवदयाप विणा पावाण विर्यमिधं पयं ॥७३॥

इस प्रकार मनुष्य मैकड़ों इदय-शोष-जनक दुःख जो पाते हैं वे जीवदया विना उपाजित पापों से विमुक्त हैं ।

इस तरह दुःख मर्मस्पर्शी पा रहे भय युक्त हों।
पूर्व कृत परिणाम हैं प्रत्यक्ष कैसे मुक्त हों॥
जीवरक्षा के बिना विशोभ ही विशोभ है।
क्या करें संसार में तो लोभ ही घस लोभ है ॥७६॥

[७७]

ते चेव जोणि लक्खा भभियच्चं पुणवि जीव संसारे।
लहिऊण माणुसत्तं जइ न कुणसि वज्जमं धम्मै ॥७७॥
मनुष्य जन्म को पाकर यदि धर्मोद्यम नहीं करोगे तो फिर भी है जीव।
हमें संसार में लाखों योनियों में परिभ्रमण करना पड़ेगा।

दृष्टान्त दस सुप्रसिद्ध हैं नर देह पाने के कठिन।
प्राप्त कर भी है नहीं जिनधर्म-पथ में क्यों लगन ?
तो हार के यह रत्न भणि संसार में घट जायगा।
लक्ष चौरासी भटकता कष्ट भव-भव पायगा ॥७७॥

[७८]

नरएसु सु दुस्सह वेयणा उपत्ताओ जाइं पइ मूढ।
जइ ताउ सरसि इन्दि भत्तंपि न रुच्चए तुज्ज ॥७८॥
नरकादि में उत्पन्न होने पर जो दुस्सह वेदनाएँ प्राप्त होती हैं, यदि उनके
जैसी यहाँ हो तो है मूर्ख ! हृष्ट भोजन भी न रुचे !

नरक गति उत्पन्न हो भोगी ज्वलन्ती वेदना।
उसका नहीं कुछ पार है वर्णन जिनासम में घना ॥
वैसा यहाँ देखो अगर तुम लेश भी संश्लेश को।
तो भोग की रुचि भी न हो समझो दया संदेश को ॥७८॥

[५६]

अच्छंतु ताव नरया जं दुष्पत्रं गन्ध रुधिरं मर्म्ममि ।
पत्तं च वेयणिज्जं तं संस्रं तुष्कं धीमरिरं ॥३६॥

जो दुःख गर्मावास में रुधिर के बीच है, वह मरने के लिए है। नहीं जो वेदना प्राप्त की, वह अब तुम्हें विमृत हो गई।

जो दुःख गर्मावास में शीघ्र लटक करे महा ।
रक्त रस्सी बीच में मड-मूठ दुर्लभ महा ॥
जन्म ले उस वेदना को तुम ही किन्तु किया ।
रच पच गये संसार में तुम मोहिलेकहेरिता ॥३७॥

[६०]

भमिऊण गन्ध गहणं दुक्कपाणियं पवित्रं विविदाइं ।
लब्धं माणुसं जन्मं अणोसं भव संस्रं ॥६०॥

गर्मावस्था प्राप्त कर भ्रमण करते हुए विविदाइं ।
कोटि भवों में दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त होता है ।

नाना भवों में भ्रमण करते हुए विविदाइं ।
कितने सहे गिनती नहीं तब मनुष्य का जन्म ॥
दुर्लभ अनन्तों जन्म में यह मनुष्य का जन्म ॥
फिर धर्म सामग्री मिली लो और भी दुर्लभ ॥६१॥

[६१]

तथ चियं केइ गन्धे मरंति कण्ठे ।
अन्ने पुण अंघलया जावज्जीवन्ते ॥६१॥

वहाँ (मनुष्य भव पा कर) कई तो गर्भ में ही मर जाते हैं, तो कोई बाल्यकाल और तरुणावस्था में, अन्य फिर अन्धे हाँकर आजीवन दुःख भोगते हैं ।

मरते कई है गर्भ में भी कई बालक काल में ।
कुछ तरुणवय में पतित होते दुष्ट यम के गाल में ॥
कुछ अन्ध होकर कष्ट भोगें पूर्ण जीवनकाल में ।
इस भाँति नर देही निरर्थक हो गई जंजाल में ॥८१॥

[८२]

अन्ने पुण कोढियया राय बाही गहिय पंगु मूगाय ।
दारिद्र्येणभिभूया पर कम्मकरा नरा यहवे ॥८२॥
फिर अनेक कोढी, क्षय रोगी, लँगड़े और गूंगे हो जाते हैं । दारिद्र्य से अभिभूत बहुत से लोग पराये घर काम करने वाले हैं ।

कोढी यना क्षय रोग प्रासित, काल यह विकराल ही ।
कुछ पंगु लँगड़े घूमते कुछ मूक है घय बाल ही ॥
दारिद्र्य से अभिभूत जन यहु काज पर घर में करें ।
इस भाँति पा नर देह को भी व्यर्थ खोकर ही मरें ॥८२॥

[८३]

धेवाणं होइ दच्चं तंमिय जल जलण चोर राईहिं ।
अवहरियंमिय संते तिब्बयरं जायए दुक्खं ॥८३॥
बहुत थोड़ी के पास द्रव्य होता है, उसे भी जल, अग्नि, चोर अ
राज्य का भय है । अपहरण हा जाने पर तीव्रतर कष्ट उत्पन्न होता है

अस्य जन-अपमानं नृणां निर्माणं नृणां

जल-अग्नि-वृद्धि-योगे नारायणं नारायणं नारायणं ॥

अपहरितं हो नृणां अज्ञानं नृणां अज्ञानं नृणां ॥

इमं भाति पा नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां ॥

{ १२ }

पविमंति सनरं नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां ॥

सागरं नृणां वि लहा अज्ञानं नृणां नृणां नृणां ॥

अयोपावनं के नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां ॥

धारा, अग्नि शिखा नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां ॥

होते हैं।

रथक्षेत्र में पुनः नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां ॥

इमं देव भी नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां ॥

अर्धं हेतु मनुजं नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां ॥

इमं भाति पा नरं देहं भी नृणां नृणां नृणां नृणां ॥

{ १३ }

इयं नाक्यं अमरं संनारं दुःखं नृणां नृणां ॥

जं नृणां कीरुत जीवन्तं नृणां नृणां नृणां नृणां ॥

इयं प्रसारं संनारं की अमरता और मानव मन की दुःखिता नृणां नृणां ॥

समस्त दुःखों को नाश करने वाली जीवन्तता का नृणां नृणां ॥

यों शांत करके जगत् की शान्ति ही निर्मातरता।

दुःखं मनुजं नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां ॥

सब दुःख नाशक मात्र है यह तत्व प्राणी की दया धारण करो सुविवेक से सब गुण इसी में आ गया ॥८८॥

[८६]

भव लक्ष्मिषु वि दुलहं संसारे मूढ जीव मणुयत्त तेण भणिमो अलज्जिर अप्पहियं किं न चित्तेसि ? ॥८९॥

हे मूर्ख ! संसार में लाखों भवों में भी दुर्लभ मनुष्य जन्म है । मैं कहूँगा कि हे निर्लज्ज ! आत्म हित चिन्तन क्यों नहीं करते ?

हे मूर्ख ! इस संसार में नर देह को तू पा गया । लाखों भवों के बाद भी यह रत्न हाथों आ गया । इसलिये कहते मनीषी इसे मत असफल करो प्राप्त अवसर आत्मचिन्तन साधना अविचल धरो ॥८९॥

[९०]

दियहाइ दोवि तिन्नि व अद्धानं होइ जंतु लभेण । सव्वायरेण तस्मधि संबलए उज्जमं कुणसि ॥९०॥

दो तीन दिन या आधे दिन के लिए भी यदि प्रवास में जाना हो उसके लिए सर्वांगपूर्वक संबल के लिए उद्यम करते हो ।

जाना अगर बाहर हुआ दो एक दिवस प्रवास में । हो अर्द्ध दिन के ही लिये तैयारियाँ आवास में ॥ जलपान करने के लिए संपन्न सजाते हो सदा । कारण सफर में क्षुधित भी रहना पड़े नहीं मबंधा ॥९०॥

[८८]

जो पुण दीह पवासो चउरामी जोगि लक्ष्म नियमेण ।
तस्म तत्र सील मई यं संवलयं किं न चित्तेसि ? ॥८८॥

तो फिर चौरामी लक्ष्म जीवा योनि का नियम से दीर्घ प्रवास है, उसके लिए तप, शील संपुक्त संवलय की चिन्ता क्यों नहीं करते ?

फिर लक्ष्म चौरासी भवों का यहूल दीर्घ प्रवास है ।
नियमा मटकना होयगा संवलय नहीं शुद्ध पास है ॥
तद् हेतु संयम शील तप का संवलय संवलय चाहिए ।
इसके बिना फिर मिट्टि स्थितिको कहो कैसे पाइये ॥८८॥

[८९]

पहरा दियहा मासा जह-जह संवच्छराई बोलिनि ।
तह-तह मूढ विषाणसु आमन्नी होइ ते मच्चू ॥८९॥

पहर, दिन, महीने और वर्ष जैसे-जैसे बीतते जाते हैं वैसे-वैसे ही है मूर्ख । यह जान लो कि मृत्यु निकट आ रही है ।

पल पल प्रहर है बीतता दिन पक्ष मौसम मास भी ।
ये वर्ष बीते जा रहे हैं क्षीण होते श्वास भी ॥
हम मूर्ख क्यों न विचारते आयुष्य प्रतिपन्न घट रही ।
मरना निकटतम आ रहा तुम बदलते करबट नहीं ॥८९॥

[९०]

के दियहं वास सयं तस्सवि रयणी सुहीरण अटं ।
किंचि पुण थालभावे गुण दोम अथाणमाणस्म ॥९०॥

सौ वर्षों के कितनेक दिन होते हैं ? जिनमें आधे तो रात्रि में गौरु गँथा दिये, और फिर कुछ गुण दोष (मला-बुरा) न जानकर बाल-भाव में गँथा दिये ।

कितने दिवस होते वरस में त्यों शतायुष दीर्घतर ।
अर्द्ध जाते रात के खोते हैं जिनको सोय कर ॥
गुण-दोष कृत्याकृत्य का नहिं ज्ञान बालक भाव में ।
खो दिया है सर्वथा पड़ भव समुद्र बहाव में । ६० ॥

[६१]

सेसं कम्मेण चिय चेहाण अद्धान ग्येय खिन्नाणं ।
वाहि मय पीडियाणं जराड संखंडियाणं च ॥६१॥
अवशिष्ट वर्षों को आधे काम धन्धे में बिताते खेद-खिन्न शत व्याधि पीडित और जरादि में खण्डित कर दिये ।

अवशिष्ट आयुष के वरस व्यापार धन्धे आदि में ।
लग कर बिताये हैं अहर्निश मोहवश असमाधि में ॥
शत व्याधि पीडित खेद खिन्नादिक अवस्था में गये
बहुमूल्य नरभव जरा जर्जर युक्त खण्डित कर दिये ॥६१॥

[६२]

जम्स न नज्जड कालो नय वेला नेय दिवह परिमाणं ।
नरएधि नत्थि सरणं नय वेला दारुणो मच्चू ॥६२॥
जो न काल, न समय, न दिन, न आयु-परिमाण देवती है, ऐसी दारुण मृत्यु के समय नरक में भी शरण नहीं ।

कब आयगा है क्या ठिकाना काल सिर पर द्या रहा ।
 आयुभ्य परिमाणादि का न विचार कुछ भी आ रहा ॥
 नरक तरु में भी शरण पाता न कोई काल से ।
 ऐसी भयंकर मृत्यु है कोई न छूटे जाल से ॥६२॥

[६३]

इय जाय न चुकामि एरिसस्स म्बग-भंगुरस्स देहस्स ।
 जीवदया ए जुत्तो ता कुग्गह जिणदेसियं धम्मं । ६३।

इस प्रकार के क्षणमगूर देह का जहाँ तक नहीं छोड़ देने, यहाँ तक
 जिनोपदिष्ट धर्म जो जीवदया युक्त है, उसे करो ।

इम देह का ऋण चूरना जब तक नहीं संसार में ।
 तब तक न बचकर चूरना चौरानि तथा प्रकार में ॥
 जब तब दयामय धर्म जिन का आचरण होता नहीं ।
 तब तक न ऋण चूरता यहाँ कुछ भी करो निश्चित यही । ६३॥

[६४]

जस्म दया तस्म गुणा जस्स दया नस्म उत्तमो धम्मो ।
 जस्स दया मो पत्तं जस्म दया सो जण पुज्जां । ६४।

जिम्के हृदय में दया है उमी में गुण है, जिम्के हृदय में दया है उमी में
 उत्तम धर्म है, जिम्के हृदय में दया है वही पान है और जिम्के हृदय में
 दया है, वही जगत् में पूज्य है ।

जिम्के हृदय वसती दया वह मद्गुणों का धाम है ।
 उसमें संकल निज धर्म हैं यह जीव का विश्राम है ॥

जिसमें दया है एक लक्षण पात्रता का जान लो ।
जिसमें अहिंसा धर्म उसको पूज्य जगमें मान लो ॥६४॥

[६४]

जस दया सो तवसी जस दया सोय सील संपत्तो ।
जस दया सो नाणी जस दया तसस निव्वारणं । ६५॥

जिसके हृदय में दया है वही तपस्वी है, जिसके हृदय में दया है वही शील सम्पन्न है । जिसके हृदय में दया है वही शानी है, जिसके हृदय में दया है उसीके निर्वाण लाभ होता है ।

वह ही तपोधन है कहा जो जीवरक्षा कर रहा ।
जिसके हृदय में है दया वह शील युत हो तर रहा ॥
ज्ञानी वही है जो सदय निर्वाण का साधक धना ।
यह ही कहा है तीर्थपति का चरण आराधक पना ॥६५॥

[६६]

जो जीवदया जुत्तो तसस सुलद्धो य माणुसो जम्मो ।
जो जीवदया रहिओ माणुम वेसेण सो पसुओ ॥६६॥

जो जीवदया युक्त है, उसी को मानव जन्म की सुप्राप्ति है । जो जीव-
दया रहित है वह मनुष्य के वंश में पशु है ।

उस श्लाघ्य मानव जन्म की उपलब्धि सफला हो गई ।
जिसके हृदय में प्राणी हिंसा की प्रतिष्ठा खो गई ।
प्राणीदया से जो रहित गुण भी सकल दुर्गुण धने ।
पशुसुल्य मानव जन्म जिसमें अन्य जीवों को हने ॥६६॥

[६७]

अहवा दूर पणट्टो संपइ एस यत्तणस्स सो पुरिसो ।
जो जीवदया जुत्तो फेरेइ जिण देसियं धम्मं ॥६७॥
मानव जीवन में पशु से भी बढ़तर प्रेमा हिंसापूर्ण वर्तन करने वाले ने
दयना वर्त्तमान काल नष्ट कर दिया है और जो जीवदया युक्त होना है
वह निरन्तर जिनोपदिष्ट दया-धर्म का पालन करता है ।

पशु मम करे वर्त्तन सदा नर जन्म उसने रो दिया ।
हिंसा रमण करके महा दुःख बीज उसने धो दिया ॥
'सर्व्व जग रक्षण' सुशिश्रुक हैं जिनेश्वर देव ही ।
जो पाछता यह धर्म वह नर देव है स्वयमेव ही ॥६७॥

[६८]

मीए उन्हे य तवं जइ तप्पइ उद्ध-याहु पंचग्गी ।
दाणं च देइ लोए दया विणा नत्थि से किंत्थि ॥६८॥
शीत एवं लष्णकाल में जो उद्ध-याहु करके पंचाग्नि तप तपता है, लोक
में दान भी देता है पर दया के बिना कुछ भी नहीं ।

शीत में निर्बस्त्र होता प्रीथम में तप तापता ।
पंचाग्नि ऊँची घाँह कर आकाश की भी नापता ॥
दान भी देता प्रचुर यश लाभ का ही लोभ है ।
प्राणीदया के भाव विन होता सदा विशोभ है ॥६८॥

[६९]

थेवोवि तवो थेवंपि दिन्नयं जं दयाए संजुत्तं ।
सं होइ असंख गुणं धीयं जइ यास संपत्तं ॥६९॥

जो दया से संयुक्त धोड़ा भी तप और दान देता है तो वह वर्षा-सिंचित बीज की भाँति असंख्य गुणा हो जाता है ।

अल्प भी जो तप तपे अरु अल्प भी यदि दान दे ।
प्राणीदया संयुक्त हो तो महाफल प्रतिदान ले ॥
बीज घोषा जाय वर्षा समय के अनुकूल हो ।
प्राप्त करता वह असंख्य गुणित सरस फल फूल जो ॥६६॥

[१००]

एखावि जेण पत्ता निय देहे वेथणा पहारेहि ।
न कुणइ जइ जीवदया सो गोणो नेथ माणुसो ॥१००॥

अपने शरीर पर एक भी प्रहार करने में कितनी वेदना होती है ? यह अनुभव कर जो जीवों पर दया नहीं करता वह मनुष्य नहीं, बैल है ।

निज देह पर तो एक हलकी चोट भी सहता नहीं ।
पर प्राण को हर्ता मद्दर रक्षण करो कहता नहीं ॥
वह बैल होकर चोट ऊपर चोट ही स्वीकारता ।
नर जन्म में हिंसक बना जो बैल गतिको धारता ॥१००॥

[१०१]

जे नारयाण दुखलं तिरियाणं तहय माणुसाणं च ।
ते जीव-पीड जणियं दुब्बिसहं हांइ लीयंमि ॥१०१॥

इस लोक में जो अमृत दुःख नारकों, तिर्यक्षों और मनुष्यों को है, वह दुःख हीव पीड़ा-जनित पापों का ही परिणाम है ।

तिबंध नरक निगोद में मंस्ट भयंकर भोगते ।
 देवता भी है दुःखी निज आयुर्म वियोगते ॥
 नर-देह में भी दुःख भरा है मौल्य का तो नाम है ।
 जीव पीड़ा-जनित केवल पाप का परिणाम है ॥१०१॥

[१०२]

कालों अणाऽ निहणो जीवो द्रव्य गुणोर्हि अविगामी ।
 तो मा कीरउ पापं जण ! जीव दयालुया होह ! ॥१०२॥

द्रव्य गुण से जीव अविनाशी है, पर काल अनादि अनन्त है । अतः हे मनुष्यों ! पाप मत करो और जीवों के प्रति दयालु बनो !

द्रव्य गुण हैं जीव के ध्रुव नित्य हैं यह काल भी ।
 तू जीव हिंसा के बिना क्या नष्ट होगा हाऽ ही ॥
 पाप मत कर ! पाप मत कर ! घोप है जिनधर्म का ।
 जीव रक्षण कर सदा ही हो न घन्धन कर्म का ॥१०३॥

[१०३]

जा कीरउ जीवदया अच्छो रिन्हो रएण जीयाणं ।
 दुक्खाण अणागमणे तह सुखघाणं अयाण मणे ॥१०३॥

जिम्ने जीवदया की है उमने दिन जीवों की प्रेमपूर्ण पूजा नहीं की !
 (जो सब जीवों को इस प्रकार मुख पहुँचाता है) उमको दुःख नहीं आ
 सकता और अज्ञान ही सभी सुख उमके मन में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं ।

जीव रक्षण कर लिया जिम्ने सदा नर देह में ।
 उसने सभी पूजन किया सद्भक्तिमय रह गेह में ॥...

थायास दिन अनजान ही मुख-स्रोत उसका खुल गया ।
दुःख कभी आते नहीं जो नित्य करते हैं दया ॥१०३॥

[१०४]

सो होइ बुद्धिमंती अलिपण न जो परस्स उवघाई ।
सो होइ सुही लोए जो खाइ न मज्ज मंसाई ॥१०४॥

जो मूठ से परोपघात नहीं करता तथा मद्य मांसादि भक्षण नहीं करता,
वही बुद्धिमान है और वही जगत में मुखी होता है ।

उपघात हो जाता पराया मूठ वचनोच्चार से ।
धीमान उसको मानिये जो वचें मिथ्याचार से ॥
मांस-भोजी, मद्य-पेयी जो नहीं होते कभी ।
लोक में होंगे उन्हीं के लिए प्रस्तुत सुख सभी ॥१०४॥

[१०५]

सो पण्डित ति भन्नइ जेण सया नेय खंडिय सीलं ।
सो सूरु धारइइ इंदिय रिउ निजिया जेण ॥१०५॥

जो सर्वदा अखण्ड शीलवान है वही पण्डित कहलाता है । सूरवीर, सुमट
वही है, जिमने इन्द्रिय रूपी रिपुओं को जीत लिया ।

शील से षट कर जगत में और अन्य न गुण कहा ।
पण्डित विचक्षण है वही जिसका अखण्डित व्रत रहा ॥
पाँच इन्द्रिय के विषय तेवीस मानो अति विकट ।
जिसने हराया अरिगणों को वही सच्चे हैं सुमट ॥१०५॥

[१०६]

रिद्धो जृञ्चण गमो रइ मुह सोहमा सच्चयं मीठो ।

मो जर घाड़ी श्यथो मयरदय राणो मई ॥१०६॥

सौभाग्यवान, मत्त्व शील और यौवन ममूद होते हुए भी जिनने रनि मुख त्यागा समने जरा की घाड़ और मकरध्वज राजा का मान मईन कर दिया ।

सौभाग्यशाली, मन्य यौवन श्रुद्धि से परिपूर्ण है ।

त्याग के रनि मुख मनी वे कर्म करते चूणे है ॥

घाड़ समने जरा रिपु की टै भगायी शान से ।

मईन किया है मदनको मण्डित किया अभिमान से ॥१०६॥

[१०७]

सयणास वि मज्ज गयं ओवरिडं लेइ मइवालेहि ।

मारैड न वरि मिल्लइ घोर जरा रषथसी पुरिसं ॥१०७॥

मरणोन्मुख व्यक्ति यदि स्वजनों के बीच जाकर भी शरण लेता है तो भी घोर जरा राक्षसी पुरुषों को मारने है, पर छोड़ती नहीं ।

स्वजन परिजन मध्य आ कर शक्ति जो शरणा गहे ।

मरणोन्मुखी वद त्रां कधी भी ना वचे मरणा लहे ॥

घन घोर डारन जग मयी मारती नहि छोड़ती ।

नश्वर पुरुषको नाश करे में न वद मुख मोड़ती ॥१०७॥

[१०८]

भव रन्ने जीव मथ्रां जां गदियो तेण मरण सीहेण ।

असमत्या मोण्डं मयणा देवाय इदावि ॥१०८॥

भय रूपी अरण्य में जिस जीव को मरणरूपी सिंह ने ग्रहण कर लिया, यह मर गया। उसे छुड़ाने के लिए स्वजन, देव और इन्द्र भी अनमर्थ हैं।

भय रूप घोर अरण्य में यह घूमता हरि एक है।
नाम उसका मरण है और अचल उसकी टेक है।
जिस जीव को है प्रहा उसने मरा, पर न यचा कभो।
स्वजन परिजन अमर इन्द्रादिक हुए असमर्थ भी ॥१०८॥

[१०६]

तुम्हें महहयाइं सश्याइं जेण काल-सप्पेण।
सो किं कहवि पलाओ मउव्व वीसत्थया जेण ॥१०९॥

कालरूपी सर्प के द्वारा तुम निरन्तर भक्षण किये जा रहे हो और संसार में विश्वस्त होकर इन प्रकार बैठे हो मानो काल में कीमलता हो, परन्तु उससे बच कर कहाँ भग सकोगे ?

जो काल सर्प निगल रहा है द्रव्य प्राणों को यहाँ।
उससे पलायन कर अरे तुम भाग सकते हो कहाँ ?
निश्चिन्त होकर सो रहे हो कर्म की आसक्ति में।
क्यों न मन रखते निरन्तर देव गुरु की भक्ति में ॥१०९॥

[११०]

जर केसर वीहच्छओ दट्ट दाढा दुपिच्छओ।
वयण कर रुहिर भिदओ विचरइ मरण मइंदओ ॥११०॥

मरणरूपी मृगेन्द्र कीमत्त केसरी-केस जितके पैले हुए हैं, जिसके दाँत, दाढ़ाएं खुली हुई हैं, जिसकी पूंछ कुटिल है और जिसके हाथ और मुँह हाथियों के वृंभस्थल विक्षीर्ण करने के कारण रुधिर से सने हुए हैं, चारों तरफ घूम रहा है।

यह मरण रूप मृगेन्द्र जग में घूमता स्वच्छंद ही।
वीभत्सता इसकी घृणास्पद संतजन कहते सभी ॥
पूँछ जिसकी है कुटिलतम दन्त दाढा विकट है।
रुधिरमय है कर घदन यह काल सब के निरुट है ॥११०॥

। १११ ।

जो जीवदया अजुत्तए दारुणए मंस रस पुच्छए।
पर दुखए अयाणमाणए से पुरिसे जय पूयणिज्जए ॥१११॥
जो जीवदया से रहित है, वही दारुण मांस रसकी चाह करता है। पराये दुःख को न जाननेवाला वह पुरुष क्या जगत में पूजनीय हो सकता है ?
प्राणीदया से रहित जो नर देव देवी भी रहा।
मांसभोजी या धली-इच्छुक पुजारी जन कहा ॥
पर दुःख जो न पिछानता भीगा न करुणा दृष्टि में।
मान्य होगा क्या कभी वह ज्ञानियों की दृष्टि में ॥१११॥

[११२]

जइ रक्खइ नेय अलियए निय घणं निय कलत्तए।
जइ तह विणएय रक्खए ता किं पावेइ कोइ मुखए ॥११२॥
जो अपने को कंचन कामिनी के मिथ्या सम्बन्ध से नहीं बचाता और केवली प्रभु के विनय के आधारीपर आत्मा की रक्षा नहीं करता। वह कैसे सिद्ध हो सकता है ?

फंचन फलत्रादिक परिग्रह जो न तजता भाव से ।
 प्रभु के विनय-चारित्र्य से निज गुण न रखता चाव से ॥
 निमंथ वचनों से रहित हो पाप के विस्तार में ।
 वह सिद्धि कैसे पायगा जो रम रहा संसार में ॥११२॥

[११३]

जइ इच्छह सयल मुखए अह सायहु परम मुखए ।
 ता होह दयाए जुत्तए करह य जिणाण युत्तए ॥११३॥
 यदि सकल सुखों की इच्छा करते हो या मोक्ष की परम साधना करना
 चाहते हो तो जीवदया युक्त होकर जिनोक्त धर्म करो ।

जो चाहते मुख नित्य केवल धर्म का साधन करो ।
 जो चाहते ही मोक्ष तो जिन वचन आराधन करो ॥
 धारण कंगे दिल में दया हिंसा सदा धारण करो ।
 छोड़ो निमित्ताधीनता संसार निष्कारण करो ॥११३॥

[११४]

सो सब्बस्स वि पुज्जो सब्बस्स वि हियय आसमो होइ ।
 जो देस काल जुत्तं प्रिय वचणं जाणए वुत्तुं ॥११४॥
 वह सब से पूज्य और सभी के हृदय में उत्तमो स्थान प्राप्त होता है जो
 देश काल युक्त प्रिय वचन बोलना जानता है ।

जो देश काल-विचार कर प्रिय वचन सत्य उचारते ।
 वे सन्त सब के हृदय को विश्राम देकर धारते ॥
 होते सभी के पूज्य पाते दिव्यतर सन्मान है ।
 रहता सदा उनकी निरन्तर सर्वहित का ध्यान है ॥११४॥

[११५]

अं बल्ले कावर्ष्यं भस्मं चियं नं करोह सुरमाणा ।

सदृ विष्णो य गुह्यतो मा धरणां पद्विभेद ॥११६॥

जो बन करना है, आज ही अभी सीप का हाथो । इन्हे तिन की
पदीक्षा मत करो । क्योंकि गुह्य में भी बहुत विष्य का स्वप्ने है ।

धरना तुम्हें जो बल, करो वह आज ही तपन अर्थात् ।

पांडो तनिक यह काल विगटे हाथ में आया कभी ॥

जैसा समय उपलब्ध है उपयोग कर लो ध्यान मे ।

उप ही प्रनादिक आचरो सम्बन्ध पूर्वक ज्ञान मे ॥११६॥

प्रशस्ति :—

इन्द्रादि भी जिनकी अहंनिश चरण कज सेवा करें ।

युगप्रवर सद्गुरु भाष्योत्तम योग ध्यान हरष धरें ।

एकाधकारी पुण्य प्रतिभा आज संघमकारणें ।

हैं धन्य महजानन्द स्वामी मान निज गुण दास हैं ।

जिनमदमूदि ग्लेण से प्रकरण हुआ उपलब्ध ।

हरिगीतिका में रण दिया अथ लेखनी यह कला ।

में छन्द भाषा आदि से अनजान हैं समस्त ।

पर है 'भरत' की कामना स्वाध्याय की इच्छा ।

पथीममो से कम रहे दूरा वर्ष अनुभूति के ।

इस कालिकता संग भू में भाव-निर्गम्य हैं ।

ये पर पद कर जीव रक्षण लक्ष्य है ही लक्ष्य ।

आजन्म आज ममान भावण परिणाम है ।

नाना वृत्तक प्रकरणा

नमिऊण जिणं जय जीवबंधवं धम्म फणय कसयट्टं ।
बुच्छं धम्ममईणं धम्म विसेसं समासेण ॥१॥

धर्मरूपी बनक के लिए कसौटी सदर जगद्वन्धु जिनेश्वर को नमस्कार करके धर्म-बुद्धि से संक्षेप में विशिष्ट धर्म कहता हूँ ।

नाणा चित्ते लोए नाणा पासंढि मोहिय मईए ।
दुषल्लं निच्च्याहेउं सव्वन्नुवएसिओ धम्मो ॥२॥

अनेक पाखण्डियों से मोहित बुद्धि वाले एवं अनेक प्रकार के चित्तवाले इस लोक में दुःख की निवृत्ति (निच्युयहेउ) का हेतु (एक मात्र) सर्व-शोपदिष्ट धर्म ही है ।

वत्तणुवत्त पउत्तो बहु कवि कोउसु वद्ध सन्नाहो ।
अविमगिगय सच्चमाओ लोओ अलिओ य वलिओय ॥३॥

अनेक काव्य कला में प्रवृत्त लोगों तथा कवि के कौत्रको से कटियद्ध लोगों के द्वारा इस लोक का सद्भाव अन्वेषित है, (अन्यथा) यह संसार, झूठा और बलिष्टों का है ।

धम्मो धम्मुति जगंमि घोसए बहु विद्देहिं रुवेहिं ।
सो भे परिविखयव्यो कणगव्य तिहिं परिवखाहिं ॥४॥

जगत् में नाना प्रकार के रूप में "धर्म-धर्म" (यह धर्म यह धर्म) इस प्रकार (लोग) चिन्ताते हैं। (किन्तु) मोने की तरह उसकी परीक्षा तीन प्रकार (कप, छेद और ताप-) से करनी चाहिए।

न य तस्स लक्षणं पंढरं च नीलं च लोहितं वावि ।

एकोसि नशरि भेओ जमहिंसा मठ्व जीवेसु ॥५॥

समका लक्षण पीला, नीला, लाल आदि नहीं है पर केवल एक ही भेद (रहस्य) है और वह है मर्त्य प्राणियों के प्रति अहिंसा-दया।

उद्धंति सुंदरं चिय सव्यो घोसेइ अप्पणोपणियं ।

केइएण वि चित्तव्वं सुंदर सुपरिकित्तं काउं ॥६॥

जैसे सभी (दुकानदार) अपने माल को सुन्दर कहते पाये जाते हैं, वैसे सभी धर्मवाले अपने धर्म को सुन्दर बताते हैं परन्तु क्रेता-खरीददार को उसकी अच्छी तरह परीक्षा करके उसे ग्रहण करना चाहिए।

नि(१ने)च्छंति त्रिकिणंता मंगुळ पणियं पि मंगुलं वुत्तं ।

सठ्वे सुंदर रागं उच्चय रागं च घोसंति ॥७॥

कोई भी विक्रेता (दुकानदार) अपने खराब माल को खराब नहीं बताना चाहते सभी उच्च स्वर से उनकी सुन्दरता (अच्छाई की राग आलापते हैं।

तो भे भणामि सठ्वे नइ घोसण विन्दिएहिं होयव्वं ।

धम्मो परिकित्तयव्वो तिगरण सुद्धो अहिंसा ए ॥८॥

तब मैं सब को कहूँगा कि ऐसी घोपणाओं से चाहिए और विकरण शुद्ध अहिंसा से धर्म की

हेरन्निओ हिरन्नं वाहिं विञ्जोमणिं च मणियारो !,
धाउं च धाउवाइं जाणइ धम्मद्विउ धम्मं ॥६॥

सौवर्णिक सोने को, मणिकार मणि को और धातुवादी धातु को जैसे पहचानता है वैसे ही धर्मस्थित-धर्मात्मा व्यक्ति धर्म को जानता है।

धम्मं जणो वि सग्गाइ सगंतो वि य न जाणइ विसुद्धिं ।

धम्मो जिणेहिं भणिओ जत्थ दया सच्च जोवारणं ॥१०॥

जानता धर्म को दूदती है, परन्तु दूदती हुई भी वह उसकी विशुद्धि (शुद्धता) को नहीं पहचानती, जहाँ सब जीवों के प्रति दया है (उसे ही) जिनेश्वर देवों ने धर्म कहा है।

जह नयरं गंतुमणो कोइ भीमाडविं पविसिञ्जा ।

पंध समासग्गाही अपरिक्खिय पंध सव्भायो ॥११॥

जिसे सुमार्ग के सद्भाव की जानकारी नहीं हो, वह संक्षिप्त सुगम मार्ग लेकर दूसरे नगर में जाने के लिए रवाना होता है, किन्तु भयंकर अटवी में प्रविष्ट हो जाता है। वैसे ही जिसने सद्धर्म मार्ग की परीक्षा नहीं की है वह भी (मोहक व सरल लगनेवाले) अपरिचित मार्ग पर चला जाता है।

पंध सरिसा कुपंधो वहुं च फणय सरिसं नय सुयन्नं

धम्मं सरिसो अहम्मो नायच्चो बुद्धिमंतेहिं ॥१२॥

बुद्धिमानों की यह जान लेना चाहिए, पथ के समान जैसे कुपथ दिखता है, वैसे ही धर्म के समान अधर्म दिखता है, परन्तु सोने की तरह चमकने वाला सभी सोना नहीं होता।

— — —

जाइवि अप्पमाणा कुल षवएसो विसुद्धओ ढिमो ।

पंडिच्चंपि पलालं सीलेण विसंबयंतस्स ॥१८॥

जो शील पर सम्यक् प्रकार से चलता है उसे अपनी विशुद्धता के लिये जाति भी अप्रमाण है, कुल का व्यपदेश (कथन) भी दम्भ (वालिशता) है और पाण्डित्य भी पराल (घाम) है ।

वेया वागरणं वा भारद्द रामायणं पुराणाइं ।

जइ पढइ जीयबहओ दुग्गइ गमणं फुडं तस्स ॥१९॥

जो वेद, व्याकरण, महाभारत, रामायण और पुराण पढता है, किन्तु जीवव्य करता है तो (वे उसके सुगति के कारण नहीं बन सकते बल्कि) उसका दुर्गति गमन स्पष्ट है ।

किं ताए पढियाए पय फोढीए पलाल भूयाए ।

जत्थित्थियं न नायं परस्स पीडा न कायव्वा ॥२०॥

उन करोड़ों पदों की पढने से भी क्या हुआ ? सब तृणवत् है, जहाँ इतना भी नहीं जाना कि पराये को पीडा नहीं पहुँचानी चाहिए ।

छंद सर सइ जुत्तेवि पवयणे सक्क(य)अक्खर विचिस्से ।

धम्मो जेहिं न नाओ नवरि तुसा खंडिया तेहिं ॥२१॥

संस्कृताक्षरों से विचित्र छटादार एवं छंद, स्वर, शब्द आदि से युक्त प्रवचन करने पर भी जिन्होंने धर्म को नहीं जाना, उन्होंने केवल भ्रूसा ही कूटा है ।

सम विसम्पि पढंता विरया पावेसु सुग्गइं जंति ।

सुदुठवि सक्कय पाढा दुस्सीला दुग्गइं जंति ॥२२॥

पापी से विरत व्यक्ति मम-विषम (उल्टा मीठा) भी पढ़ते हैं तो भी वे, सुगति प्राप्त कर लेते हैं किन्तु सम्पत् प्रकार से सम्पूण पाठ करने माने भी यदि दुर्गति हैं तो वे दुर्गति में जाते हैं।

बंभाणस्स हरस्म व अन्नस्स व जीवघायण रयस्म ।

अवसस्स नरय पडणं लइ से सव्वं जगं पक्खे ॥२३॥

शोकाला में रत मनुष्य का अरश्य ही नरकपान होगा। चाहे नदमा, विष्णु या शीर कोई अन्य अथवा मारा जगत ही उनके पक्ष में क्यों न हो।

यादत्तरि कळ कुसला पंडिय पुरिसा अपंडिया येव ।

मव्व कलाणं पवरं जे घम्म कळं न याणंति ॥२४॥

वदर कलात्री में कुशल पंडित पुरुष भी यदि सर्व कलावी नें छोटे धर्म कला नहीं जानते तो वे अपण्डित हैं।

संजम कळा तव कळा विन्नाणकळा विणिच्छिय कळा च ।

जस्सेसा नत्थि कळा मो विकलो जीव लोणम्मि ॥२५॥

संयम कला, तपकला, (भेद) विज्ञानकला और विनिरिक्त ज्ञान अज्ञान में नहीं है, लोक में वह जीव कलावान नहीं पर किन्तु ?।

पढड नडो वेरगं निव्विज्जिज्जा बहुओ जये जेव ।

पढिऊण सं तह सडो जालेण जालं समोणं ॥२६॥

नट भी वैराग्य पाठ करता है और उस निमित्त से सुख-सुविधा प्राप्त करते हैं। पर वह शठ तो पढ करके भी एक ही श्रेणी का लाल (प्रपंच, भव परम्परा) ही बढ़ाता है।

एयं नड पंडियं भट्ट चरित्तं न ज्ञेयं ।

लोयं च पन्नवेई गईय से पाविणं ॥२७॥

ऐसा-नट-पाण्डित्य और भ्रष्ट चारित्र्य कभी सद्गति नहीं ले जाता । लोक उससे बोध भले ही पा जाँय पर उसकी गति तो पापिका ही होती है ।

तिन्निसया तेसठ्ठा पासंडीणं परुपर विरुद्धा ।

नय दूंसंति अहिंसंतं गिन्हह जत्थ सा सयला ॥२८॥

अहिंसा का आचरण करने वाले को परस्पर विरुद्ध ३६३ पाण्डित्यों के मत भी दूषित नहीं करते । इसलिए जो सकल (पूर्ण) अहिंसा है वही ग्रहण करो ।

जह उडुवइमि उइए सयल समत्थंमि पुन्निमा होइ ।

तह धम्मो वि दयाए होइ समत्थो समत्ता ए ॥२९॥

जैसे तारागणों के उदित होने पर भी सर्व समर्थ तो (पूर्ण चन्द्र वाली) पूर्णिमा ही होती है । उसी प्रकार धर्म भी समस्त (सम्पूर्ण) दया के होने पर ही समर्थ होता है ।

जो गिन्हह कायमणी वंरुलिय मणित्ति नाम काऊण ।

सो पच्छा परितप्पइ जाणम जणो विउसंतो ॥३०॥

जो वैडूर्यमणि के नाम से (वहाने) काचमणि को ग्रहण कर लेता है, परन्तु जानकार व्यक्ति से (स्वरूप) जान लेने पर वह वाद में पड़ता है ।

न जलं न जडा न मुंडणं नेव य वक्कल चीवराणि वा ।

नरस्स पायाइं विसोहयंति जहा दया थावर जंगमैसु ।

मनुष्य के पाप न तो जल ही शुद्ध कर सकता है, न जटाएँ, न मुण्डन और न थलकल वस्त्र ही शुद्ध कर सकते हैं जैसे कि स्थावर और प्रस प्राणियों पर दया (पाप विशुद्धि) कर सकती है ।

जइ बहसि भर सहस्सं समिहाणं चय मंत जुत्ताणं ।
जीवेसु वि नत्थि दया सव्वंपि निरत्थियं तस्स ॥३५॥

यदि हजार भार ममिधा-इन्धन भी मंत्रयुक्त आहुति देकर जलाता है, पर प्राणियों पर दया नहीं है तो उसका सभी निरर्थक है ।

फोहस्सय भाणस्स य माया लोभस्स निग्गहो नत्थि ।
किं काहिति जइओ तिदंढ मुंडं च छागे वा ॥३६॥

जहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ-कपायों का निग्रह नहीं वहाँ जटाएँ, त्रिदंढ, मुण्डन या मृगचर्म क्या करेंगे ।

जइ वहसि केस भारं च्छारं खोरं च चीवरं दोरं ।

नय वहसि सील भारं वहसिय भारं अणत्थाणं ॥३६॥

यदि जटा-केशों का, राख (शार) छस्तरा (छुर) कपायवस्त्र (चीवर) और डोरी (यज्ञोपवीत) का भार ढोते-हो, किन्तु शील का भार वहन नहीं करते तो केवल अनर्थों का ही भार वहन करते हो !

कुठ्वे णउरं पट्टं पिट्ठी घट्टा जट्टाकलावेण ।

पासं च फुंढियाए तहावि नो जाणिओ धम्मो ॥३७॥

केवल पट, पीठ और घड़े जैसी जटाजूट करके पास में कमंडलु रखने पर भी धर्म नहीं जाना तो (क्या सिद्धि किया !)

कुव्वय तिदंढधारी निल्लज्जो अहिय वइ चुक्कारो ।

तय नियमेसु असारो हिंढइ पच्चक्खओ गोणो ॥३८॥

कुमती, त्रिदण्डधारी, निलज्ज, अहित और अत्यन्त भ्रष्ट, सारहीन तप नियमादि में प्रवृत्त प्रत्यक्ष ब्रह्म की तरह भटकता है ।

तिन्नेव वहसि दंडे सगडं वा वहसि वेणु दंडाण ।

रसस्स नत्थि मुक्खो सद्द फरिस रस रूप गंधेसु ॥४२॥

त्रिदण्ड वहन करते हो, यदि गाड़ी भर वेणु दंड (वांम के दण्ड) वहन करोगे, पर शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध में आसक्त रहोगे तो तुम्हारा मौझ नहीं होगा ।

नर सिर कवाल माला न तिदंडं कुंडिया जडा मउडो ।

नवि द्यारो नवि दोरो सारो धम्मस्स जीवदया ॥४३॥

नरमूण्ड, लप्यर, त्रिदण्ड, कुंडी (कमंडलु) जटामुकुट राज या डंगरी (यमोपवीत) में कोई (धर्म का) गार नहीं, जीवदया ही धर्म का सार है ।

नय धम्मंमि पमाणं नमो मुंडी जढी य कुची या ।

नय नय रंड सुसीविय चीवर धरणं दया धम्मो ॥४४॥

धर्म के लिए न तो नमन, मुंडित, जटाधारी, दादीधारी ही प्रमाणभूत है, और न मौ टुकड़े सी कर बनाये हुए चीवर (चिथडे-कथा) का धारण करना ही प्रमाण है । यमली धर्म (का प्रमाण) तो दया है ।

सोहइ आहियग्गी समणो वा तावसो य सा चैव ।

विसया जस्स वसम्मी विसयाणं जो वसे नत्थि ॥४५॥

धमण हो चाहे तापस ही आहिताग्निसे बरी सुशोभित होता जो विषयी के बराबरी नहीं, पर विषय जिनके बराबरी है ।

गंगाए जडगाए उच्चुट्टा पुण्करे पहासे वा ।

पुरिस्ता न द्दुत्ति चुक्खा जेसि न चुपर्याइं कम्माइं ॥४६॥

जिनके कर्म (चार्य) पवित्र नहीं है वे पुरुष गंगा, जमुना, पुष्करराज या प्रभास (पट्टन) तीर्थ में डुपकी लगाने में पवित्र नहीं होते ।

चंडाला सोयरिया केवट्टा मच्छ घंधया पावा ।

तित्थ सएसु वि न्हाया नवि ते उदएण सुज्झंति ॥४७॥

जो चाण्डाल, सौकरिक (कसाई), केवट, मच्छीमार आदि पापी हैं वे सैकड़ों तीर्थों में नहाने पर भी पानी से शुद्ध (पवित्र) नहीं होते ।

पड मइल पंक मइला धूलीमइला न ते नरा मइला ।

जे पाव कम्म मइला ते मइला जीव लोणम्मि ॥४८॥

जिनके कपड़े मैले हैं, जो कीचड़ से मैले हैं या धूल से मैले हैं वे वास्तव में मैले नहीं हैं इस जीव लोकमें मैले तो वे हैं, जो पाप कर्मसे मलिन हैं ।

सुचिरंपि धोयमाणो बाहिरओ सृ षहुएण उदएण ।

नवि सुज्झंति मणुत्सा अंतो भरिया अमिज्जस्स ॥४९॥

चिरकाल तक बाहर से बहुत से पानी द्वारा धोने पर भी अंतर के पाप (मैलसे) भरे मनुष्य शुद्ध नहीं होते ।

जहा कालो इंगालो दुद्धदोओ न पंडुरो होई ।

तह पाव कम्म मइला उदएण न निम्मला हुंति ॥५०॥

जैसे काला कौयसा दूध से धोने पर भी उज्ज्वल नहीं होता, वैसे ही पाप कर्म से मलिन व्यक्ति कभी पानी से निर्मल नहीं होते ।

सच्चवं सोयं तवं सोयं सोयमिदिय निग्गहो ।

सव्व भूय दया सोयं जल सोयं च पंचमं ॥५१॥

सत्य शुचि है, तप शुचि है, इन्द्रिय निग्रह शुचि सर्व प्राणियों पर दया शुचि है और पांचवी शुद्धि जल की है ।

एयं पंचविहं सोयं पंचिदिय विसोहणं ।

जेसिं न विज्जाए देहे ते भूढा सोय वज्जिया ॥५२॥

ये पांच प्रकार की शुचि पंचेन्द्रिय विशुद्धिकारक है। जिनके देह में ये नहीं, वे मृद शुचि रहित हैं।

त ण्हाएणत्रि तणु सोही^१ करेई अवणेई माहिरं पंकरं ।

ए ए उदयस्स गुणा नहु उदयं सुगाइं नेइ ॥५३॥

उस नहाने से देह शुद्धि होती है, याद्व मैल साफ होता है। यह जल का गुण है, पर जल गदमति में नहीं ले जाता।

सच्चेण संजमेण य तवेण नियमेण वंनचेरेण ।

मुद्धो मायंग रिसि नय मुद्धो तित्थ जत्ताहि ॥५४॥

सत्य, संयम, तप, नियम और ब्रह्मचर्य द्वारा मातंग—चाण्डाल, भंगी भी शुद्ध है। सिर्फ तीर्थ याथाओं से कोई शुद्ध नहीं होता।

तित्थं जणो वि ममाइ तित्थस्स विनिच्छियं अयाणंतो ।

तित्थं जिणेहि मणियं जत्थ दया सव्व जीवाणं ॥५५॥

तीर्थ के विनिश्चय (रहस्य) को नहीं जानने वाला मनुष्य तीर्थ की उलाश में मटकता है। (परन्तु) जिनदेवों ने जहाँ गर्व जीवों के प्रति दया है उसे ही तीर्थ कहा है।

नाणोदय पडिहच्छं धिइ पालीयं चरित्त सोवाणं ।

अप्पा जेसि न तित्थं तित्थं खु निरत्थयं तेसि ॥५६॥

जिनकी आत्मा ने ज्ञान की उन्नति को ठुकराया और चारित्र सोपान का पालन न किया, वह तीर्थ नहीं उनके लिए तीर्थ भी निरर्थक है।

किं निग्गुणस्स तित्थं काही हिंसालिए पवत्तस्स ।

परधण परदार रयस्स लोह भोहाभिभूयस्स ॥५७॥

१—“उत्तरायणं विपरी” एव एति में है।

हिंसा और झूठ में प्रवृत्त, परस्त्री और पराये धन में अनुरक्त एवं लीभ व मोह से अभिभूत दुर्गुणी के लिए तीर्थ भी क्या करेंगे !

जीवे न हृणइ अलियं न जंपए चोरियं पि न करेइ ।

परदारं पि न वधइ घरेवि गगा दहो तस्स ॥६८॥

जो जीवघात नहीं करता, मिथ्या नहीं बोलता, चोरी नहीं करता और परस्त्री गमन भी नहीं करता उसके घर में ही गंगा कुंड है ।

जीवे हिंसइ अलियं पि जंपए चोरियं पि य करेइ ।

परदारं चिय गच्छइ गंगावि परम्मुहा तस्स ॥६९॥

जो जीव हिंसा करता है, झूठ बोलता है और परस्त्री गमन करता है उसके लिए गंगा भी पराङ्मुख है ।

एगट्टाणंमि द्विओ अहिसेयं कुणइ सब्ब तित्थेसु ।

जो इन्द्रिय निग्रह करता है, अहिंसक और रात्यवादी है वह एक स्थान में—घर में—रहा हुआ भी सर्व तीर्थों में अभिषेक करता है ।

वास सहस्रसंपि जले उव्वुइं निव्वुइणं जइ करेइ ।

जीव वहओ न सुज्झइ सब्बेणवि सायर जलेण ॥६१॥

जीव बध करने वाला यदि हजार वर्ष पर्यन्त जलमें दुर्वाकियों लगाता रहे पर उसकी समूचे समुद्र के जल से भी शुद्ध नहीं होती ।

मच्छाय कच्छपा चिय गाहा मयराय सुंसमाराय ।

हिंदिज्ज विमाण गया जइ उदयं सुग्गइं नेइ ॥६२॥

यदि पानी सुगति में ले जाने वाला होता तो मछलियों, कछुए, ग्राह (घड़ियाल), मगरमच्छ एवं सुममार (जलजन्तु) कमी के वैमानिक देश लोक में चले गये होते ।

नाना वृत्तक प्रकरण

जल मज्जगेण, अंगं फट्टं हुट्ठाय धापमंत्स।
 नय कोइ गुणो पत्तो सीएण थ मारिथो ज्जया ॥११॥
 जल मज्जन करते करते शरीर फट गया और आचननो से होउ पर
 पर कोई गुण प्राप्त नहीं हुआ, व्यय ही खुद को टंड में माता।

जइ मट्टियाए सम्मो उदएणं गोळियाइं स्ती ए।
 मन्नामि कुंभकारा सपुत्त दारा गया समं ॥१२॥
 यदि पानी के माथ मिली हुई मिट्टी (शरीर पर फोटेने) से ही स्कं
 जाता तो मैं समझता हूँ, कुम्भार स्त्री पुत्र मट्टि (कमरे के मन्ने)
 ये होते।

जइ थुणइ देवयाओ लोए हिंइइय सव्व निदरं
 जीवेसु चि नत्थि दया मख्खं पि निरत्थयं संस ॥१३॥
 जो लोक में सर्व तीर्थों में घूमता है, देवताओं को स्तुति करता है, पर
 अपने हृदय में यदि जीवों के प्रति दयामात्र नहीं है तो सर्व निरर्थक
 है।

तपउ य उदवाहु होऊ सेवाल-मूळ-फल-नैवेदं।
 कंठय पइ सयणं वा करेउ पंचगि तावं वा ॥१४॥
 चरउ य बयाइं नाणा विहाइं हिंइउय सव्व निदरं।
 वेसं च कुणठ किंची सीलेण विणा नसे ॥१५॥
 उदवाहु करके तप करो या सेवाल, फल, मूल का मन्ना करो। मन्ना
 कंठक पथ पर शयन करो या पचाग्नि साप करो। मन्ना करके मन्ना
 करो व सर्व तीर्थाटन करो एव वैगा भी वैगा मन्ना करो। मन्ना
 के बिना उम में कुछ भी नहीं।

मोर्णं वा आसेवउ आसम-वासं अरन्न-वासं वा ।

हिययं जरस न सुद्धं सध्वमसुद्धं^१ परिकिलेसं ॥६८॥

मौन रहो, आश्रमवास करो या अरण्यवास करो, जिसका हृदय शुद्ध नहीं है, उनके लिए ये सब्बे अशुद्ध (खाइयसुद्ध) सभी अशुद्ध और क्लेश कर है ।

सज्जइय चौवराइं जइ हिंडइ नग्ग वेस भावेणं ।

जीवेषु य नत्थि दया सर्व्वंपि निरत्थयं तस्स । ६९ः॥

जो वस्त्रादि का त्याग कर नग्न भाव में घूमते हैं पर जीवों के प्रति जिसके दया नहीं उसके लिए सब कुछ निरर्थक है ।

तव नियम दिक्खियाणं पंचिदिय अग्गिहुत्त ठवियाणं ।

जीवदय जन्नियाणं दिन्नंपि महाफलं तेसिं ॥७०॥

पचेन्द्रिय रूपी अग्निइत्र स्थापक, तपनियम में दीक्षित और जीवदया के साहिक हैं, उन्हें दान देने से भी महाफल होता है ।

सच्चं च जरसकुंडं तवो य अग्गी मर्णं च समिहाओ ।

इंदिय गामा य पसू सयायणे दिक्खिओ होइ ॥७१॥

जिसके गर्त ही यशकुण्ड है, तपरूपी अग्नि और मन रूपी काष्ठ-समिधा है, और इन्द्रिय समूह ही पशु, है शाश्वत दीक्षित वही होता है ।

धम्मा धणे महल्ले पमारिए सव्व धणिय पासंढे ।

सुपरिक्खिऊण गिन्हइ श्थहु वंचिज्जे लोओ ॥७२॥

१—“खाइय सुद्ध” पाठ मूल प्रति में है ।

महान् विस्तृत धर्मोद्यान में गमी प्रकार के पापंड (व्रत) वर्णित है (मार्ग
वार्षिक व्रत फैले हुए हैं) अच्छी तरह परीक्षा करके ग्रहण करो क्योंकि
यहीं पर लोग ठगे जाते हैं ।

जेसि पठवइयाणं घणं च घन्नं च जाण जुमां च ।

कय विदकएण वट्टइ सो पासंडो न पासंडीओ ॥७३॥

जिन प्रवर्जितों के घन धान्य यान व (अन्न विलादि) जोड़ी हैं, मरीदन
बेचने में लगे रहते हैं, वे पाण्डो (दम्मी) हैं, व्रतधारी नहीं ।

घम्मलिंमां च से हत्थे ववहारोय वट्टइ ।

का एसा नाम पवज्जा नेय आही न कुक्कुडो ॥७४॥

जिनके हाथ में (माधु-) धर्म के चिन्ह (रजोहरणादि) हैं, वह अगर व्या-
पारादि में प्रवृत्त होता है तो पेगी नाम की प्रवृत्ति में क्या ? न तो वह
आही है न सुगां !

आहीए मयणमत्ता ए रामिओ वण कुक्कुडो ।

तेण सपिड्डओ जाओ न च आही न कुक्कुडो ॥७५॥

कामोन्मत्त आही ने वन में सुगों के साथ रमन किया । छुट्टे जो पिता
हुआ वह न आही है न सुगां है ।

सो चेव य घरवासो नवरिं परियत्तिओ वमो वेसो ।

किं परियत्तिय वेसं विसं न माते लअवं ॥७६॥

अगर वह (प्रवर्जित) रहवास करता है तो अपने काम के ही वृत्त है ।
(यदि उमने दुःखील नहीं छोड़ा तो) केवल के करने से क्या कु
क्या जहर खाने से नहीं मारेगा ?

सर्वो भणइ च देसे मज्झ कुलं उत्तमं च विउलं च ।
 कह से पत्तिययव्वं सीलेण विसंबयंतरस ॥७७॥
 देश में सभी लोग कहते हैं कि मेरा कुल उत्तम और विपुल है (पन्द्र)
 शील से विपरीत मार्ग पर चलने वाले उम व्यक्ति के (उत्तम व विपुल
 कुल की) प्रतीति कैसे हो ?

सव्वाओवि नईओ कमेण जह सायरम्मि तिथडंति ।
 तह भगवई अहिंसा सव्वे धम्मा (समजंति) ॥७८॥
 सभी नदियों क्रमशः समुद्र में जाकर गिरती हैं, उसी प्रकार भगवती
 अहिंसा में सभी धर्म समा जाते हैं ।

तो भे भणामि सव्वे जायंति समागया मम सुणेह ।
 चरह परलोग हिययं अहिंसा लक्खणं धम्मं ॥७९॥
 तो जितने लोग मेरे समागम में आए उन सबसे कहता हूँ, सुनो, प
 लोकर के लिये हितकर अहिंसा लक्षण वाले धर्म का आचरण करो !
 तो अरय विरय विमले सयं पहे देव दुंदुहि निनाए ।
 समांमि चिरं वसिहह सुचरियं चरणाचरिह धम्मं ॥८०॥
 तो रज रहित-विरत निर्मल सत्य पथ में सचरित्र संयम-धर्म का आच
 रण कर देव दुंदुभि निनाद से चिरकाल तक स्वर्ग में वास करो ।
 नाणकुसेण रुंधह मण हत्थि उप्पहेण यच्चंतं ।
 मा उप्पह पड्डिवन्नो सीलारामं विणासिज्जा ॥८१॥
 शानरूपी बंधुश द्वारा मन रूपी हाथी को उन्मार्ग में जाने से रोक
 बन्धन था वह उत्पथ गामी होकर शील रूपी उद्यान को नष्ट न कर डाले ।
 ॥ इति नाना विनक प्रकरण समाप्त ॥

बालवोध प्रकरण

पगमवि जिगवइ देउ गुरु, अनु सरमइ सुमरेवि ।

धम्मुवएसु परंपियइ, सुगि अवहाणु करेवि ॥१॥

जिनेश्वर देव और जिनपतिपुरि गुरु को प्रणाम करके और फिर मरस्वती का स्मरण करके धर्म का उपदेश कहा जाता है, सावधान होकर सुनी ।

दुलहउ माणम जम्म लहि, जे नवि धम्मु करंति ।

ते धमरण दुह-सय-कलिय, चिरु संसारि धमंति ॥२॥

दुलम मनुष्य जन्म को पाकर जो धर्म नहीं करते वे शरण से रहित तथा सैकड़ों दुःखों से श्रुत होकर चिरकाल तक संसार में मटकते हैं (मोक्ष प्राप्त नहीं करते) ।

जुव्वणि भुंजइ विसय-सुहु, जुहुउ धम्मु करेसु ।

पहउ बाल परंपियउ, मा चि (त्ते) वि धरेसु ॥३॥

यौवनकाल में विषयों के सुग को भोग लू, बृद्ध होने पर धर्म ब्रह्मगा—
ऐसे बाल जीवों (अज्ञानियों के) के कथन को कभी चिन्त में मत धरो ।

वायाहय-धयवइ ममउ, जीविउ चंचलु जेण ।

बालत्तणि वि विघेइ जण, धम्मि पयट्टहि तेण ॥४॥

क्योंकि जीवन पन्न से आन्दोलित ध्वजा के पट के समान चंचल है
इगलिये त्रिवेनी पुरुष बचपन में ही धर्म में प्रवृत्त हो जाता है ।

इह जुव्वण अविवेय - धरु, सव्व - अणत्थ - निहाणु ।

एण जो न विहंविउ, सो पर सुयणि पहाणु ॥५॥

यह यौवन अविवेक का घर और सब अनर्थों का निधान (स्थान) है। इसके द्वारा जिसकी दुर्दशा नहीं हुई, केवल वही संसार में प्रधान है।

जाव न पीड़इ देहु जर, जाव न वाहहि चाहि।

जा इंदिय सुत्थत्तणउँ, ता सद्धम्मु पसाहि ॥६॥

जब तक जरा देह को पीड़ित नहीं करती, जब तक व्याधियाँ उसे व्याधित नहीं करती और जब तक इन्द्रियों की स्वस्थता है तब तक सद्धर्म का साधन करो।

पिय-जणु जुब्बणु धणु सयणु, सयलु वि लोइ असाहु।

नरइ पइंतह पावियह, नवि केणइ साहाहु ॥७॥

प्रिय-जन, यौवन, धन, स्वजन सभी इस लोक में सार-रहित हैं। नरक में गिरते हुए पापी मनुष्य को किसी से सहारा नहीं मिलता।

घर-बावारि वि मोहियहँ, सयलु समप्पइ जम्मु।

एणुवि न पावहि पावयर, जित्यु ए साहहि धम्मु ॥८॥

सुभ्य प्राणी यह-व्यापार में सारा जन्म समर्पण कर देता है पर उस पापी को एक भी ऐसा क्षण नहीं मिलता जिसमें वह धर्म की साधना कर सके।

येवउ आउ सुतुच्छु सुहु, पय पय आवय-ठाण।

दुक्कड-फलु अइ पइयर, सधम्मु करेसु सुजाण ॥९॥

आयु थोड़ी है, सुख अत्यन्त तुच्छ है, पग पग पर आपत्तियों के स्थान हैं। दुष्कर्मों का फल अत्यन्त कड़वा होता है। हे सुजान ! इसलिये धर्म करो।

जिणि निज्जिय राणइ रियु, जो इंदिहि कय सेवु ।
निम्मलु नाणु पर्येवु जसु, सो पणमिज्जइ देवु ॥१०॥

जिम्ने रणक्षेत्र में भाव-शत्रुओं को जीत लिया, जिसकी इन्द्र सेना करते हैं, जिसके निर्मल शान रूपी दीपक है उस देव को मणाम करो ।

पंच महाव्रती गुरु

पंच महव्वय-भूसियठ, परिपूरित सुगुणेहि ।
उवसम-निहि सुय-नीरनिहि, गुरु लब्भइ पुन्नेहि ॥११॥

पाँच महाव्रतों से भूषित, सद्गुणों से परिपूर्ण, उपशम के निधान और श्रुतज्ञान रूपी जल के समुद्र ऐसे गुरु पुण्यों से मिलते हैं ।

सव्व जिएसु वि दय करहि, एस सघम्मइ मूलु ।
एय विहूणठ तवु जवु वि, सव्वु वि भव-अणुवूलु ॥१२॥

सब जीवों पर दया करते हैं—यह सद्धर्म का मूल है । इसके बिना जप और तप सभी भव के अनुकूल हैं—संसार सागर में भ्रमण कराने वाले हैं ।

मृपावाद त्याग

अलियउँ वयणु न भासियइ, दोस सहस्स-निवासु ।
जेण ह्णिज्जइ सुह-निलउ, सव्वत्य वि वीसासु ॥१३॥

असत्य वचन नहीं बोलना चाहिये जो हजारों बुराइयों का घर है, जिससे मुल का घर विश्राम सर्वथा नष्ट हो जाता है ।

चोरी

इह-पर-लोह विडंबणहं, विवि जह जइ बीहेहि ।

ता कइयवि पर-धण-हरणि, मं जिय मणु विविहेहि ॥१४॥

इस लोक और परलोक में यदि विडम्बना होने से डरते हो तो हे जीव !
पराये धन के हरण में कभी भी मन को मत लगाओ ।

परस्त्री गमन

जइ अप्पा (? ग्वा) डण कुडियउ, पुणु पुणु दुग्गइ दारु ।

ता पइ-दिणु सच्छंद-मइ, जिय अहिलसु पर-दारु ॥१५॥

यदि वारंवार दुर्गति के द्वार को खोलने का शौक (कोड) है तो हे
जीव ! प्रतिदिन स्वच्छन्दतया परस्त्री की अभिलाषा करो ।

परिग्रह परिमाण

जइ सोक्खिन्नुहि निव्विन्नु तुहु, जइ संसारिं कज्जु ।

ता परिगहि अ पमाणि जि । य , सुइरु निरंतर रज्जु ॥१६॥

यदि हमें (आत्मिक) सुख से निवृत्ति और संसार-भ्रमण से ही काम
है, तो हे जीव ! अपरिमित (बिना परिमाण किये) परिग्रह में चिरकाल
अनुराग करो ।

रात्रिभोजन

राई-भोयणु परिहरहु, निय-मणि नियमु धरेहु ।

जेण उवज्जिय सयल गुण, सिय-दिव-लच्छि वरेहु ॥१७॥

रात्रि भोजन को छोड़ दो, अपने मन में नियम धारण कर लो, जिससे

कि गव गृणी यो उपाजित कर मोक्ष रुपी दिव्य लक्ष्मी का चरण कर
 यको ।

रत्तिर्हि द्विर्द्वि रयणियर, मुक्कियरय रंक्-समाण ।

रर्हि उविट्टुं ते जिम्बर्हि, जे निसि जिम्बर्हि अयाण ॥ १८ ॥

रात में भूषे रजनीचर (राक्षस) रको के समान फिरते हैं, जो अशानी
 रात में मोजन करने हैं वे उनका जूटा मोजन करते हैं ।

मेह पित्रीलिय उयद्दणइ, मच्छिय यम्बणु करेइ ।

जूयलोय स्संजणइ, कोलिउ कोदु पि होइ ॥ १९ ॥

(मोजन में) चोटियाँ धाने से बुद्धि-भेदा का नाश होता है, भक्ती
 बमन करा देती है, बुद्धि के भक्षण से जलावर हो जाता है और कालिक
 से कोद भी हो जाता है ।

लुगिइ गलियइ दुमसयरु, कंउर दारुण दारु ।

भक्कियउ धालु पि तक्कणिण, मरु भंजइ अइचारु ॥ २० ॥

गले में कौटा या लकड़ी लग जाने से भयकर कष्ट देता है और बेस-
 वास जाने से तत्काल स्वरमग (कण्ठ चीरन) हो जाता है ।

मुंजिज्जंतउ वंजणिर्हि, समु अलि पिध [१५] इ तालु ।

निसिभोयणु चट्टुविट्टु ह्वइ, आमय जालु-करालु ॥ २१ ॥

भोजन करते हुए यदि व्यंजन-तरकारी के गाय विरट्टु आ जाय तो वह
 तालु बंध देता है । यदि रात्रि का मोजन अनेक प्रकार से रोगों का
 भयंकर जाल है ।

दिवसि वि जे अइ मुट्टुम जिय, अट्ट-जसिण दीसंति ।

कृथु पभिइ दीवाइ मुट्टि, ते निसि किम्ब दीसंति ॥ २२ ॥

जो सूक्ष्म जीव दिन में भी यड़े यत्न से दिखायी पड़ते हैं वे कुंथु प्रभृति जीव दीपक का अच्छा प्रकाश होने पर भी रात्रि में कैसे दिखायी दे सकते हैं।

जइ किर केवल-नणिणु वि, निसिभोयणु न करंति।

ता छउमस्थ पमायपर, किह दूरिण न मुयंति ॥ २३ ॥

जब कि केवलज्ञानधारी भी (जिनको जीवाजीव का प्रत्यक्ष ज्ञान है) रात्रि भोजन नहीं करते तो छद्मस्थ प्रमादी जीव पहले से क्यों नहीं छोड़ते ?

संसज्जहि आहार निसि, जिय तिण-सम रस वण्ण।

ते जाणंता किम गिलहि, जे नर सहिय सकण्ण ॥ २४ ॥

रात्रि के संसर्ग से आहार में उमी के सदृश वर्ण-रस वाले जीव उत्पन्न हो जाते हैं। यह जानते हुये वे पुष्प कैसे गले उतार सकते हैं, जिनके हृदय हैं और जिनके कान हैं।

जे रयणिहि दियहि वि अबुह अच्चहि आहरम [१] ण।

ते रक्खस घर-भार-यर अहवा पसु अ-विस्ताण ॥ २५ ॥

जो मूर्ख रात दिन (के विवेक बिना) भोजन करते ही रहते हैं वे पृथ्वी पर भार स्वरूप राक्षस हैं अथवा बिना सींगों के पशु हैं।

जे दिणु मिहिवि भूढ-मइ, रयणिहि परिभुंजंति।

ते कल्प-इ-मु अवगणिवि, विस-विहिवि रज्जंति ॥ २६ ॥

जो मूर्ख बुद्धि वाले दिन को छोड़ कर रात में भोजन करते हैं वे कल्प-वृक्ष का तिरस्कार करके विष की वेन से अनुराग करते हैं।

जे निसि-भोयणि रइ करहि, ते मय हुंति सियाळ ।

अहि विच्छिय गोहा नउळ, धूयइ काय विहाळ ॥ २० ॥

जो राशिमोजन से प्रेम करते हैं वे मर कर गीरइ बनते हैं । कय
साँप विच्छु या गोधा या नकुल या सल्लु वा काक वा विली होते हैं ।

निसि-भोयणि निरयहें नरहें, दुलदइ परि मवि होइ ।

सयणु असणु धणु फणु वसणु, जिइ अंघइ दर जोइ ॥ २१ ॥

राशिमोजन में निरत मनुष्य को परमत्र में शत्रु, मोक्ष, धन-धान्य,
यन्त्र दुर्लभ होते हैं, जैसे अन्धा उत्तम वस्तु को नहीं देख सकता ।

दिणु अवहीरि विहावरिहि, जे दग्गु जिन्निहि ।

ते संति वि पहलि अमुह, उसरि कंइ वंनि ॥ २२ ॥

दिन को छोड़कर जो रात्रि में धर्म मान कर सोने लगते हैं वे पूर्व
सकदमं उच्यंता भूमि होते हुए भी उमर में बूढ़ होते हैं ।

जे बिरमहि निसि भोयणहें, वंदिणु मिय-पद-वामः ।

तह घन्नह सुविवेइयह, अइव अणुवाम ॥ २३ ॥

जो शिव-पद-वास की वांछा वाले (मोक्षार्थी) हैं वे पूर्व राशिमोजन
का त्याग करते हैं । वे सुविवेकी धन्य हैं किन्तु उनके उदरान्तों
का फल प्राप्त करते हैं ।

जं सव्वन्नुहि धारियउ, अणु अणु-वयाउ

जम्म-दुगिवि निसि-भोयणह, अणु अणु परिहाउ ॥ २४ ॥

जो शम्भो में अनेक प्रकार से सर्वशो के लिए प्रयत्न करें, उम
का त्याग करना वंशो जन्म के लिए प्रयत्न करें ।

जहिं परिचत्तउ निसि-असणु, जाणेयिणु परमत्थु ।

तह पर-अप्प सुहावहह, भवि भवि मंगल मत्थु ॥ ३२ ॥

परमार्थ को जान कर जिन ने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया उन स्व पर सुखदायकी का भव भव में कल्याण हो ।

मदिरापान

मज्जु विहोइइ मइ-विहयु जिव कंजिउ वर-खीरु ।

तेण विहूणउ दुह लहइ, तो तं पियइ न धीरु ॥ ३३ ॥

अच्छे दूध में काजी पड़ जाने की भाँति मद्य, मत्ति-वैभय को नारा कर देता है । उसके बिना दुख पाता है तो भी धीर पुरुष उसे नहीं पीता ।

खण मित्तेण वि जो हरइ, जाया जणणि विहाउ ।

भूरि विडंयण कुल भुवणु, सो कह होउ मुसाउ ॥ ३४ ॥

स्त्री और माता के भेद विवेक की जो क्षण मात्र में ही हरण कर लेता है एव कुल और संगार में खूब विडम्बनादायक है वह मद्य कैसे सुम्बाउ हो सकता है ।

असमंजस चिट्ठिय जणइ, मज्जु अणेय पयार ।

जिहिं दिट्ठिहिं विसिट्ठयण, लज्जहिं नट्टवियार ॥ ३५ ॥

मद्य अनेक प्रकार की अममंजस-अनुचित चेष्टाओं का जनक है । जिसके प्रभाव से विशिष्ट पुरुष भी विचारहीन होकर लज्जित होते देखे जाते हैं ।

खमु-दमु संभ्रमु-तवु नियमु, विहलइ सयलु वि मज्जु ।

मोहइ वियलइ इंदियइ, हालाहलु जिम्भ सज्जु ॥ ३६ ॥

मय से लम्, दम, संयम, तप और नियम सभी गुण नष्ट हो जाते हैं और मोह से इन्द्रियाँ विकृत हो जाती हैं जैसे हत्याहल विष का मद्य प्रभाव हो।

मइरा मइ मोहिय मइहि, जायध कुमर धरेहि ।

दीवायणु खलियारियउ, बहु दुययण पहरेहि ॥ ३७ ॥

श्रेष्ठ यादवकुमारों ने मदिरा के नशे में उन्मत्त होकर अनेक दुर्वर्चनों के प्रहार द्वारा दीपायन ऋषि को आचार से र्गनित कर दिया।

देयी हुरण सुकोवणिण, धण जण फणय ममिद्ध ।

तेण सदइही धारवइ, सह लोवके वि पतिद्ध ॥ ३८ ॥

उगने क्रुद्ध शंकर पन, जन और कनर से ममूद्ध द्वारिसा नगरी को दग्ध कर दी यह बात सोर में भी प्रसिद्ध है।

जो मज्जह चुलउ वि पियइ, सज्जिर अणुयहु अंतु ।

भव मायर गंभीरि चिर, सो मज्जइ मज्जंतु ॥ ३९ ॥

मद्य वा चुल्लू मर भी जो पीना है वह मोहित होकर सुषुप्त हो कर चिरकाल तक गहरे भव-सागर में डूबा रहना है।

भासाहार

दुग्गइ पहि थिरु संवलउं, दोसंगउ धीमच्छु ।

मार्यंगइ अविसेसयर, मंसु न खाइ जु सच्छु ॥ ४० ॥

जो सज्जन है वे दीवने में धीमत्य और दुर्गति-भाग के भियर पायेय, चाण्डाल-कर्म के ममनस भाग को कभी नहीं खाते।

कथा यत्तु जु यन्नियइ, सुर भोयइ तम सच्चु ।

मंसु जु भवखइ नर निरिय, निग्घिण ताइ नसच्छु ॥ ४१ ॥

देखनाओं के भोग (बलि) आदि का जो कथाओं में यत्नपूर्वक वर्णन करते हैं वे, तथा जो पुरुष पशु-मांस का भक्षण करते हैं वे सब निर्दयी और अमत्यशील हैं ।

जसु ग्नापवा मंसु मह, हाइणि जिम्य अइ किच्छ ।

दिट्टउ दिट्टउ जीयइउ, मारेया तसु इच्छ ॥ ४२ ॥

जिमड़ी मांस खाने में ही मति रहती है वह हापन की भाँति अत्यन्त दुखी है और जीवों को देग-देख कर उन्हें मारने की इच्छा करता है ।

सच्चुवि जिउ सुक्काइ महइ, तइ कउ विण धम्मेण ।

सो सच्चरथ वियन्नियइ, सिज्जइ दय करणेण ॥ ४३ ॥

सारे जीव ही मुख चाहते हैं पर धर्म जिये बिना यह कैसे प्राप्त होगा ! यह सब अर्थ विपन्न जन पर दया करने से गिद्ध हो जाता है ।

जे रसणि [इं] दिव लंपडा, मंसासणि आसत्त ।

ते हिंसक पलया सरिस, अइ दूरिण परिचत्त ॥ ४४ ॥

जो जिह्वा इन्द्रिय में लम्पट हाकर मांस-भोजन में आसक्त होते हैं वे हिंसक प्रलयकारी के गदश हैं, अत्यन्त दूर से ही उनका परित्याग करो ।

भयखत्ता इर वत्थ जण, सत्य निर्यधण दिट्ट ।

तिण संसत्त अणंत जिउ, मंसु न खाइ विमिट्ट ॥ ४५ ॥

इतर वस्तु को खाते हुए भी मनुष्य शास्त्र गपांदा देखता है तो अनन्य जीवों से संगत मांस को विशिष्ट पुरुष खाता ही नहीं ।

कह मन्नह इत्थि त्तणइं, तुल्लइ माइ पियाहं ।

भिन्नउं भिन्नउं आयरणु, जुत्तउं होइ पियाहं ॥ ४६ ॥

स्त्रियों में भी माता और पिता को गमान जैसे मानेगे ? (माता एवं)
पिता के साथ भिन्न-भिन्न आचरण ही युक्त होता है ।

तेण जु षेइवि इउ भणहिं, धन्नु वि पाणिहिं अंगु ।

मंसु वि तंपिव भक्खणिउं, एउ न जुत्तिहिं अंगु ॥ ४७ ॥

वैसे ही कई लोग यह कहते हैं कि धान्य भी प्राणियों का अंग है, उसी प्रकार गे मांस भी भक्ष्य है, पर यह युक्ति उत्तम नहीं ।

पाणंगुवि दुद्धाइ इह, मय्यिहि इहउ भवसु ।

लोहिय इहइ प्पमिइ पुणु, किण कारणिण अमक्यु ॥४८॥

प्राणी के अंग से प्राप्त दूध आदि पदार्थ सब के लिए इष्ट भक्ष्य हैं तो फिर लोहू धीरे हृदियों आदि किस कारण अमक्ष्य है ?

यहुह वि एगिदियहं यहु न पलासण सम क्ह ।

घण कोडा कोहिवि जलह, कि अवहरइ समुदु ॥४९॥

बहुत से (धान्यादि के) एकेन्द्रिय जीवों का जब होते हुए भी मांस भोजन के तदृश्य रोग परिणामी नहीं, कोटा फाँटि भेष भी क्या समुद्र से जल का अपहरण कर (खाली कर) मरते हैं ?

जो काऊण वि उभाणु तवु, मंसासणि मणु देइ ।

मो गउ जिम्ब मजेविल्लु, तणु रेणुहिं गुंहेइ ॥५०॥

जो प्यान व तप करके भी मांस भोजन की थोर मन लगाना है वह साँढ की तरह स्नान कराने पर भी दुग्न्त-देह का घूल में आलांतित करता है ।

सव्विहिं तिरियिहिं जत्तक्य, सब्बअं दाणइं दिन्न ।

जिण आजम्मु दि आयरिय, मंस निवित्ति पइन्न ॥५१॥

उसने सब तीर्थों की यात्रा कर ली, उसने सब दान दे दिये, जिसने
बाजन्म की आचरण मे मांस से निवृत्ति प्राप्त कर ली ।

मक्खन

अन्तमुहुत्त परेण जहिं, सुहुमह जीवहँ रासि ।

सम्मुच्छहिं तं असिउ मण, लोणिउ माथरि पासि ॥१२॥

अन्तर्मुहूर्त्त मास में जहां एदम जीवों की राशि सम्मूर्च्छित उत्पन्न होती
है उस मक्खन को भक्षण करते हुए अपने को भव-पाश में मत डालो ।

एगस्सवि जीवह वहणि, जायइ पाव बहुत्तु ।

ता जिय पिण्ड सख्खु इहु, उहु भक्खणह अजुत्तु ॥१३॥

एक ही जीव की हत्या में बहुत पाप होता है तां जीवों के पिण्ड स्वरूप
यह (मक्खन) बुधजनों के लिए भक्षण करना व्युक्त है ।

एगह निय जीवह तणिण, जे जिय कोडि वहंति ।

ताहं अणंता भव गहणि, जम्मण मरण हवंति ॥१४॥

एक अपने जीव के लिए जो करोड़ों जीवों का वध करते हैं, उन्हें जन्म-
मरण कर अनन्त भव ग्रहण करने होते हैं ।

जइ पच्च जिणवर वयणि, तुहु जइ कज्जु मुहेहिं ।

ता होइवि करुणा परमु, मा लोणिउ भक्खेहिं ॥१५॥

यदि तुम्हारा जिनेश्वर के वचनों में विश्वास है और यदि तुम्हें सुखों से
सरोकार है तो करुणा-पर होकर मक्खन का भक्षण मत करो ।

मधु

यहु जिय घण घा उन्भवठं, लाला जेम्ब विलीणु ।

किम भक्खइ मक्खिउ वि बहु सुस्सावठ सुकुलीणु ॥१६॥

दक्खा पाणय लद्दुएहिं, मच्छंडिय सुघरहिं ।
एवं पाएहिं अन्नहिं वि, किं मज्जाइहिं तेहिं ॥६१॥

सदे हुए द्राक्षगुच्छ, मिथी, भेष्ठ घृतादि अन्य उत्तम पेय है फिर मद्यादि में क्या रखा है ?

अभक्ष्य—अनन्तकाय भक्षण

मिल्लि पिलुंखह पिप्पलह, फवुंवर फलाइं ।

बड़ उंवर साहीण तह, किमि कलवल सवलाइं ॥६२॥

बड़, पीपल, गूलर, पिलखु व कालुम्वर (कचूमर) इन पाँच उदुम्वर फलों को छोड़ दो जो निःसार हैं एवं उनमें बहुत-सी कृमियाँ किलबिलाती हैं।

छहिउ वि भक्खंतठ अवरु, अरहन्नवि समयन्नु ।

पंचुंवर संभव फलइं, कोइ न खाइ सयणु ॥६३॥

शास्त्रज्ञों और अर्हन्तों ने खाना तो दूर रहा, जिन्हें स्पर्श करना भी बुरा बतलाया है उन पाँच उदुम्वरों से उत्पन्न फलों को कोई समझदार नहीं खाता ।

वीहहिं जेणं तहु भवहु, सुमुणिय पवहण तत्त ।

सव्व अणंत काइयइं ते भक्खइ न सुसत्त ॥६४॥

प्रवचन के तत्व को शत कर जो भव-भ्रमण से डरते हैं वे सत्वशील पुरुष सभी प्रकार के अनन्तकायो का भक्षण नहीं करते ।

मिस्सइ आमिण गोरसिण वियलइं मुयह सुदूरि ।

जेण तहिं दिट्ठा केवलिहिं सुहुमा जिय अइचूरि ॥६५॥

द्विदल (दालवाले अन्न) को (कच्चे) गोरस (दूध-दही-घाछ के साथ मिठाकर (खाना) दूर से त्यागो, जिसमें कि केंचली भगवान ने अरन्त सूत्रम जीव देखे हैं ।

जं अन्नवि फलु पुल्ल दलु मीसिउ अंतु सपदि ।

संधारणं संसत्तु तद्द धम्मिय दूरि सुपदि ॥६६॥

जो और भी सैकड़ों जन्तुओं से मिश्रित फल-पूल-दन हैं एवं कान्धारदि जो जीवादि संयुक्त हैं उनको हे धार्मिक ! दूर ही त्याग दो ।

दूत-क्रीड़ा

जुय रमंतिहि कुलु मरुलिज्जइ ।

मुच्चइ सच्चइ जणि लम्भिज्जइ ॥

किज्जइ सोउ मुफउ मिडिवा ।

भवण दविणु सयलुवि हारिज्जइ ॥६७॥

जूआ रमनेवालों का कुल मलिन होता है, कल ने कलित्व होता है, लोगों में लज्जित होता है । शोक-चिन्ता करना है, गिरी (१) रगता है व भयन द्रव्य आदि सब हार जाता है ।

दानु न दिज्जइ भोग न सुंइ ।

मुय पियय मपिय माइ सुमिइ ॥

देव गुरु वि तिण सम वि गणिइ ॥

जुत्ताजुत्ताहि नवि याणिइ ॥६८॥

दान नहीं देता, भोग नहीं भोगता, प्रिय-पत्नी के प्रिय होकर स्वयं शोपित होता है । देव और गुरु को दूध-दही-घाछ के अन्न गिनता है । अनुचित को नहीं जान पाता ।

अप्पणु कोउअइ वारवइज्जइ ।
 दुग्गइ सरलइ ए(प)हिं वंचिज्जइ ॥
 धिइ मइ कित्तिवि दूरि चइज्जहिं ।
 ता धम्मिय तहिं मा सज्जिज्जमहिं ॥६६॥

अपने कौतुक से (द्यूत व्यसनी व्यक्ति) दुर्गति के मार्ग को सरल कर
 ठगा जाता है, धृति, मति और कीर्त्ति को दूर ही त्याग देता है, तो हे
 धार्मिक ! उसे मत करो ।

वेश्यागमन

तामु न सच्चु न सोउ न संजमु ।
 सीलु न विज्ज न न इंदिय दमु ॥
 तिण अप्पउं कि विरु दुग्गइ छूढउ ।
 जा पण रमणि रमइ अइ मूढउ ॥७०॥

तब तक न सत्य है न शौच, न संयम, न शील, न विद्या, न इन्द्रिय-
 दमन जब तक अपने को दुर्गति का स्पर्श करानेवाली वेश्या से वह
 अत्यन्त मूर्ख रमण करता है ।

जा जालोय जिम्ब गेहहु देहह ।
 देधिणु रुहिरु आकड्डइ वहुलहु ॥
 सुकुमारत्तणु पयइयि गुण गणु ।
 जीवहु सा किम्ब रंजनु बुहमणु ॥७१॥

जो जाँक की भौंति देह में चिपक कर शरीर का बहुत सा रुधिर खींच

लेती है। सुकुमारत्वादि गुण गणों को दिखा कर यह इत्यारिणी (वेश्या) कैसे ममकवार पुरुषों का चित्त प्रमत्न कर सकती है ?

आवय आठहिं जहिं आसत्तह ।
पसरर अजसु तिलोइ असत्तह ॥
सव्वत्थ वि रह गरह पपट्टइ ।
तहिं वेमहिं किय रागु विसट्टइ ॥७२॥

जिम में आशक्ति से आठों आपदाएँ आती हैं, आशक्ति से तीन लोक में अपयश फैलता है। (इसके कारण लोक) गवंध निन्दा गर्हा में प्रवृत्त हो जाते हैं उस वेश्या से विशिष्ट जन कैसे प्रेम कर सकते हैं ?

दुवियट्ठि ... (१ य खुंवि) य नढ भंडाहिं ।
नयणिहिं अकयस्थहिं जे रंढहिं ॥
नीलुत्पल सुमाले ... (हिं गालेहिं) ।
ते विसूर धन्निजहिं घालेहिं ॥७३॥

१) दुर्विदग्धा—स्वच्छन्दी नट-विट और भाँड़ी द्वारा चुम्बित व अकु-
र्षं नयनों की लड़ाती रहती है, उन उच्छिष्ट वेश्याओं के नीलोत्पल
से नेत्र और सुकुमार कपोल अशानियों द्वारा ही वर्णित होते हैं।

राउ न जसु मयरद्धय रुधिवि ।
कुट्टिवि, तीसइ धणइं निरुधिवि ॥
सग्ग पवग्गण धग्गह अग्गल ।
वेम म ढोपइ दुह सय अग्गल ॥७४॥

मकरध्वज (कामदेव) के सदृश रूपवान में भी जिसे प्रेम नहीं, धनवान
 गुरूप व कुप्टी को भी जो संतुष्ट करती है, स्वर्ग व अपवर्ग-मोक्ष मार्ग
 की अर्गला सदृश वेश्या सैकड़ों दुखों को देने में अग्रणी है ।

सिरि हिरि कंति धिइ मइ किन्ती ।

दंति संति दय सज्जण मत्ती ॥

छट्टहि कंत पणत्थि पसत्तउ ।

नावइ ईस वसेण पमत्तउ ॥७५॥

भी, लज्जा, कान्ति, धृति, मति, कीर्ति, दम, शम, सज्जन-मैत्री (स्त्री)
 को वेश्यासक्त कान्त छोड़ देता है और इर्ष्यावश वेदरकारी से (घर भी)
 नहीं आता ।

सज्जणु उत्तमु कुल संभूयउ ।

पर गुण-दूषण घोसणि मूयउ ॥

पूइउ पंडित गणयहि रत्तउ ।

जइता दासत्तणु धुवु पत्तउ ॥७६॥

सज्जन, उत्तमकुल में उत्पन्न, पराये गुण-दोषों की आलोचना, लक्ष्मण
 में मूक, सबसे पूजित पण्डित भी यदि गणिका से आसक्त है तो उन
 निश्चय ही दासत्व प्राप्त हो गया ।

अग्नि जले जिव तणु संतावइ ।

कायम्बर जिम्ब मणु मोहावइ ॥

छुरिया जिम्ब जा देहु वियारइ ।

सा कुलह किम्ब चित्तु वियारइ ॥७७॥

धर्म से जलाने की भाँति शरीर को संतप्त करती है, मदिरा की भाँति मनको मोहित-मूर्च्छित करती है, छुरी की भाँति जो देह विदीर्ण करती है, वह (वेश्या) कुल (-नाश) का चित्त विचार ही कैसे कर सकती है। यद्यपि वह (वेश्या) कुलनाशिनी चित्त में क्यों निचार करेगी ?

चारइ तव दविणइ सुह भवणइ ।
 हणइ सुम्भाणइ कय निम्भाणइ ॥
 नाण पणुइ उप्पहि घहइ ।
 वेस पराणइ नरइ महहइ ॥७८॥

सुख की भवन रूप तप सम्पदा से विचलित करती है, निर्माणकारक सुखान का हनन करती है, ज्ञान को दूर हटा कर उन्मार्ग में प्रविष्ट कराती है। वेश्या इस प्रकार नरक महल में पहुँचा देती है।

शिकार

इम जाणेविणु पण रमणि, दूसिय गुण - मणि-माल ॥

दूरेण मिल्लु जिमू टहउ, मुग्गइ सुखल विसाल ॥७९॥

ऐसा जान कर गुणगणों की माला को दूषित करने वाली पण-रमणी (वेश्या) को दूर से ही त्याग दो जिससे कि गद्गति धीरे विशाल सुख पा सको।

पारधि वइर परंपर कारणु ।

पारधि जीवह करइ विचारणु ॥

पारधि जहि मुद्धिहि पारद्धी ।

दद्धी तिहि नारय गय लद्धी ॥८०॥

शिकार वैर की परम्परा का कारण है, शिकारी जीवों का विदारण करता है। जिस मूर्ख ने शिकार खेलना प्रारम्भ किया—परिणाम में उसने नरक गति की प्राप्ति को दृढ़ कर लिया।

रन्नि घसहि जि तण चरहि, फुल्लिण कुवि न हणति ।

तह मय मारणु आयरवि, किह भइवाउ व्हंति ॥८१॥

जो जंगल में रहते हैं, तृणों को चरते हैं और फूलों को भी कभी नष्ट नहीं करते, उन भृगुओं का वध करके धीर नाम को कैसे धारण करते हैं।

अप्पा पर अवयारयदि, दोसइ फुडु पारद्धि ।

विहलइ सयलई सुचरियई. पोसइ पावह रिद्धि ॥८२॥

शिकारी अपना और पराया अपकार करने वाला स्पष्ट दिखायी पड़ता है वह समस्त सचरित्रों या निर्दोष (घास) चरनेवालों को व्याकुल करता है और पाप की समृद्धि का पोषण करता है।

विरइय सयलवि जिहि, खट्टिग - साल - विसाल ।

तह भव-वणि जम्मण-मरण, होसइ दह दुह-माल ॥८३॥

जिसने सर्वत्र विशाल कसार्खाना निर्माण किया है, उसे भवरूपी जंगल में जन्म और मरण होगा जो दसों दुखों की माला है।

पूयउ देवय चरउ तवु. वियरउ दाणु पहाणु ।

जइ पारद्धिहि किम्बइ मणु, ता सयलुवि अपमाणु ॥८४॥

देव को पूजो, तप का आचरण करो, प्रधान दान को दो, पर जो शिकार खेलने में मन है तो यह सब अप्रमाण मानो।

आहेद्विय ज्यारियहँ, ध्रुव सुह दवरि अभाउ ।

कह मन्नहह भोगवि मुयवि, चलहहि दुहि निउकाडा ॥८५॥

शिकारी और शूयारी दोनों को थोड़े सुख पर अभाव अधिक होता है ।
निश्चय ही वे (सुख) भोग कर मरने पर अपनी काया को दुख में
बालते हैं ।

अवयारि वि जे उवयरहि, ते नर धर लंकाह ।

मज्जुत्यह जे असु हरहि, ते धुउ धरणिहि घा(भा)रु ॥८६॥

अपकारी के प्रति जो अपकार करते हैं वे मनुष्य पृथ्वी के अलंकार हैं ।
जो मृग-यूथ के प्राण हरते हैं, वे निश्चय ही पृथ्वी के भार हैं ।

जे पंचिदिय बहु करहि, ते निग्धिण चंडाल ।

सुहु एकह वि न इंदियह, भवि भवि लहइ ति आला ॥८७॥

जो पंचेन्द्रिय जीवों का वध करते हैं वे निर्दयी चाण्डाल हैं । वे एक भी
इन्द्रिय का मृत नहीं (पाते) और भव-भव में वे कलंकित होते हैं ।

जइ अप्पइं सव्वइं दुहइं, तुहु समुदियइ दि दिक्खु ।

वाचारंतर परिहरिवि, ता आहेइउ सिक्खु ॥८८॥

यदि अपने को सम्पूर्ण प्रकार से सब दुखों से दुखी देखना चाहते हो
तो दूसरे कामों को छोड़ कर शिकार करना सीखो ।

सच्चरित्र महात्मा

धन्त ति वन्नउंधर वलय, तिहुयग लण-नय-पाय ।

जइ सब्बहँ जीवहँ वहहु, विरया मण वय काय " " " "

उन्हें भूमंडल में धन्य कहता हूँ और तीन भुवन के लोक उनके चरणों में नत हूँ जो मन वचन और काया द्वारा जीव-बध (हिंसा) से सर्वथा निरत हूँ।

सच्चं मिड हित धम्मु पर, आलोचित जि धयंति ।

लहु दुद सुहासहिं पूरियठ, ते भव-वासु वयंति ॥६०॥

सत्य, हित, मित और धर्म पर आलोचित जो चलते हैं, वे अल्प दुःख और अधिक सुखपूर्ण भव वास विताते हैं।

जह मणि कंचण लदुवल, समभावह सुपवित्तु ।

वि (१ वि)त्तु विरत्तठ चोरियहु, तह वन्दउ सुचरित्तु ॥६१॥

जो मणि-कंचन और डाले-पत्थर के प्रति समभाव वाले अति पवित्र हैं और जिनका चित्त चोरी से विरक्त है, उन सचरित पुण्य की वन्दना करो।

मेहुण सेवणि जाहँ मणु, सब पयारि निवित्तु ।

सचराचर इहु जगवलउ, तहि निम्मिउ सुपवित्तु ॥६२॥

मैथुन के सेवन में जिनका मन सब प्रकार से निवृत्त हो गया है, उनसे इस सचराचर प्राणियों वाले जगत को अतीव पवित्र बना दिया है।

धम्मोवगरण मेत्त धण, जे परिगहु न करित्ति ।

पंडिय जण आणंदयर, ते गुण रयण धरित्ति ॥६३॥

धर्मोपकरण मात्र धन को रखने वाले जो परिग्रह को नहीं रखते वे पंडित जनों को आनन्द करने वाले गुण-रत्नों को धारण करते हैं।

ता राइहिं अबभव हरइ, जो चउविहु आहारु ।

नरसिरिसुरसिरिसिद्धसिरि, (१ सुल)हहं सु पर आहारु ६४।

जो आजन्म रात्रि में चारों प्रकार के व्याहार का त्याग करते हैं उन्हें नरधी मुरभी और निद्रिधी—मोक्ष सुलभ है और वे स्व-पर के व्यापार स्वरूप हैं।

सुश्रायक

जे चिश्वंदणि वंदणइं, पडकमणइ उज्जुत्त।

ते निय कुळ सरवर कमल, सुस्सावय सुपुत्त।॥६१॥

जो चैलवन्दन में, वादना में और प्रतिक्रमण में तत्पर हैं, वे सुश्रायक सुपुत्र और अपने कुलरूपी सरावर के कमल हैं।

जे जिण-पूयणि मुणि-नमणि, निच्चु पयच्चु करेति।

ते कल्लाण निहाण फुडु, लहु पव्यज्ज घरेति।॥६२॥

जो जिन पूजा में, साधुओं को वन्दन करने में नित्य प्रयत्न करते हैं और शीघ्र प्रव्रज्या धारण करते हैं वे स्पष्ट कल्याण के निदान हैं।

जे विज्जंतइं घणि दविणि, वियरहि पन्निनइं।

धीणह दुहियह दुत्थिय(ह), तह कहि भवि सम्मत्तु।॥६३॥

जो बहुत से द्रव्य की विद्यमानता में भी पाप को हटाने में, दान, दुखी और दुर्दशाग्रस्तों को दान नहीं देते, परमात्मन्त हैं वस्तु सम्मान होगा।

निम्मलु सीलु न पालियउ, दमिय न करुत्त तुंग।

मण मयगलु नो वसिय कयउ, विदं कुत्त न संसु।॥६४॥

निर्मल शील का पालन नहीं किया, दमिय न करुत्त का दमन नहीं किया और मनरूपी मतवाले हाथी को कड़े नहीं किया।
(अनासक्त-विरक्त) कैसे कहे जायें ?

सत्ति न गृह्ण मिस करहि, परइ न तबु समुदरु ।

दुग्गइ ररुहि उटियहि, तणु पुणु अप्पा छुट्टु ॥६६॥

शक्ति को नहीं छिपाता, यशाना करता है, तप के करने में गम्भक् प्रपण नहीं करता स्पष्ट ही उगने दुर्गति के राहू में अपनी आत्मा और शरीर को फेंक दिया ।

जिण संसिउ निरुचुवि करहि, गम धम्मिय वच्छल्ल ।

सासण सार मुदार मणु, जिम्व होयहि नीसल्लु ॥१००॥

'जिन' का कहा हुआ स्वभमीवात्मन् सर्व करो एवं उदार चित्त से शान्त की सार सम्माल करो, जिगसे कि दुःख रहित हो जाओ ।

जण जिण पययण मइलियइ, जं निय सुत्तह धिरदुधु ।

तं मा काहिसि जिम होयहि, कम्म विमुञ्जु विमुट्ठा ॥१०१॥

जिन-प्रवचन कां मलिन करने वाले और अपने कुल के विरुद्ध जो (कार्य) हो उसे मत करो । ताकि कर्म विगर्जन कर विशुद्ध हो जाओगे !

जह सुत्तियि मणि तुल्ल गुण, मसमण अिगिय मुंढ ।

तह पुणु जह चूडामणि, हंस न कधूर (१ कथइ) मुरण्ण ॥१०२॥

जैसे वेदधारी व गुण्डित सुभ्रमण को मणि तुल्य गुण की उपमा दी जाती है, लेकिन चूडामणि तो स्पष्ट ही जड़ पदार्थ है टँग को कमी यगला (!) नहीं कहा जाता ।

जे पावेयिणु जिण पयण, उस्सुत्तइ भासंति ।

ते पाविवि चित्तरयणु, (खंडो) खंडि करंति ॥१०३॥

जो जिन के वचन को पा कर भी सूत्र विरुद्ध भाषण करते हैं वे चिन्ता-मणि को पाकर भी उसे खण्ड-खण्ड कर डालते हैं ।

जो चित्तमणि पत्यरुह, सुरतु विस रुग्णाय ।
सो अन्तर सुह यत्नरहि, सुममण लिंग-धरण ॥१०४॥

जो चित्तमणि और पादर में, कलरुह और विषरुह में, पण्डित और मूर्ख में अन्तर है वही अन्तर सुभमण और बरपारी में है ।

जो अयगन्निय मुनि रयण, लिंग मुमन्ति परेइ ।
सो छंडेयिणु अमय रमु, हालालु पपरोइ ॥१०५॥

जो मुनि-रत्न की अराजना करके लिंग में (बाह्य वेष्ट में) भक्ति करना है वह अमृत-रस को त्याग कर हालारत्न को खगता है ।

कौह दयानल उहवहु, समय मेय पूरेण ।
भय संतावु... (व) मगु जिम्ब, मुग्गु सूरु दूरेण ॥१०६॥

सिद्धान्त रूपी मेघ जल के प्रवाह से शोष रूपी दावानल को बुझा दो और संगार के गन्ताप को छगान्त कर दो जैसे मूर्ख दूर से ही अन्धकार नाश कर देता है ।

माण महीहरि मा चहुहु, अयगुण भिल्लहि किण्णि ।
जइ कुमन्निण रक्खिउ मगहु, भवियहु रयणिहि तिन्नि ॥१०७॥

हे भव्य ! यदि ज्ञान शयन-चारित्र्य रूप शिरलो की कुशलता पूर्णक रक्षा करना चाहते हो तो अभिमान रूपी पहाड़ पर मत चढ़ो जो अयगुण रूपी मोलों-लुटेरो से आगीपं है ।

माय भुयंगी गरुल मरु, जहि विषखेरइ निच्छु ।
तहि गुरु फम्मइं सुय अमउ, दूमिज्जइ निमिच्छु ॥१०८॥

मायारूपी सांपिन जहाँ गदा जहर का समूह विखेरती रहती है, वहाँ भारी कर्मियों द्वारा भुतरूपी अमृत निश्चय ही दूषित होता है।

गुरु पवहणि आरुहिवि लहु, लोह-समुद्र तरेहि ।

सो पायालि ठुहावहइ, अप्पाणडं पाडेहि ॥१०६॥

वह (लोभ) आत्मा को गिराकर पाताल में स्थापित कर देगा अतः गुरु रूप जहाज पर चढ़ कर दुरन्त लोभ रूपी समुद्र को पार करो।

पाव धयंस पसंग रसु, मं कइयह वि करेसु ।

धम्मु चरंतहु जिम्ब सयलु, छिज्जइ कम्म किलेसु ॥११०॥

पापी सखा का भी प्रसंग कभी मत करो, जिससे धर्म का आचरण करते हुए समस्त कर्म-क्लेश नष्ट हो जायें।

तिविहु जु चेइउ वन्नियउं, भगवंतिहि सिद्धंति ।

निस्सु अणिस्सु अणाययणु, तं सहहहिं अ - (१चंचं)ति ॥१११॥

मगवन्त ने शास्त्रों में तीन प्रकार के चैल बतलाये हैं—निभ्राकृत, अनि-भ्राकृत और अनापतन। उनकी लोग पूजा एवं भद्रा करते हैं।

विहि चेईहरि पइ-दियहु, गमणच्चणहिं करेहु ।

अन्नइ दुन्निवि परिहरहु, मा संसारि पडेहु ॥११२॥

विधि चैत्यालय में प्रतिदिन जा कर पूजा-अर्चा करो। अन्य दोनों का परित्याग कर दो, संसार सागर में मत पड़ी।

निसणहु निच्चु वि जिण समउ, सेवहु सुहगुरु पाय ।

सठ्व विरइ मणु संठवहु, जेण न हुँति अवाय ॥११३॥

सदैव जिनोक सिद्धान्त की सुनो सदगुरु के चरणों की सेवा करो, सर्व-विरति चारित्र्य में मन को स्थापित करो, जिससे कि अनिष्ट न हो।

तिथ्यथराण परायणह, एवसंतह सुजयाण ।

सिधसुह लालस माणसहं, भद्रुदुहयउ मवियाण ॥११४॥

तीर्थङ्गरी में परायण, उपशम वाले, विजय शील और मोक्ष मुखाभि-
लापी भव्य जनों का कल्याण हो ।

भव विरसत्तणु भाविरह, तथ संजम निरयह ।

वेच्चइ जाह मणुस्स भवु, ते निहि सव्व सुहहं ॥११५॥

संसार के प्रति विरक्ति पाने वाले तप और मंथन में निरत हैं उनका
मनुष्य भव सब सुखों के निधान (मोक्ष) का मार्ग है ।

धम्मुघएसं परं आराहेहिति जे महासत्ता ।

चारिस्त वं(चं)दन धवलिय तित्तया जाहिति ते सिद्धि ॥११६॥

महान् सत्वशील जो पुरुष धर्मोपदेश पद की आराधना करते हैं वे
चारित्ररूपी चन्द्र से तीनों लोकों को उजल करनेवाले, सिद्धि को प्राप्त
होते हैं ।

॥ इति बालावबोध प्रकरणं समाप्तं ॥

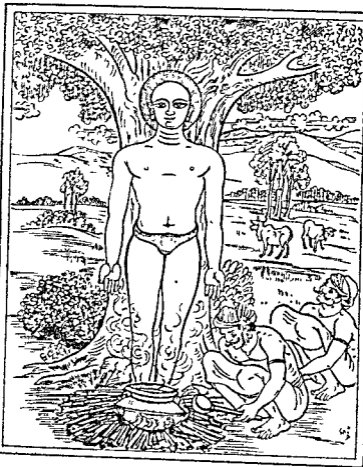


ॐ अहं पद धुन ॐ

तर्ज :—ऋषभदयाला जग प्रतिपाला

ॐ अहं ॐ अहं मेरे, मनमें हरदम रहा करे ।
ॐ अहं ॐ अहं पावन, रस रसना से बहा करे ॥
ॐ अहं मैं ॐ अहं तू, ॐ अहं यह आत्म है ।
ॐ अहं तन्मय शिव सुन्दर, ॐ अहं परमात्म हैं ॥
ॐ अहं गुण कथोन्द्र गाते, ॐ अहं पदवी पाते ।
ॐ अहं ॐ अहं जय जय, ॐ अहं हे मन भाते ॥





श्री महेन्द्रकुमार सिंघी के सौजन्य से